

मुम्बय्यां

मणिलाल इच्छाराम देसाई इत्यनेन र्खीये 'गुजराती' पत्रस्य

“ न्यूस मुद्रणालये ”

प्रदत्तित्वा प्रकाशितम् । पोर्त वाळ्वापोटा, बेन-हावस लेन.

धीहृणाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



सर्वभागेषु नष्टेषु कलौ च खलघर्मिणि ।
पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छामान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादिनीर्यवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थपत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादचिनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पापण्डैकप्रपत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तरुमात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वप्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबह्मभोववीत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताचार्यचरणप्रसादुमावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

अष्टमपत्रे चरमपङ्क्तितोऽवशिष्टम् ।



उच्यते । सा च स्नेहरूपा । तदुक्तं निबन्धे 'माहात्म्याज्ञाने' त्यस्य व्याख्याने 'रतिः स्नेह' इति । स्नेहस्तु प्रेम्पैव । न च शाब्दिकोक्तमावार्थविरोधादसङ्गतमिव प्रतिभातीति वाच्यं, निरुक्तेरपि ममाणत्वात् । इतरथा 'कूपेर्वर्ण' इत्यनुशासनसिद्धस्य कृष्णशब्दस्यानन्दवाचकत्वं गगनकुमुपायमानं स्यादिति भक्तिसरणि कुशलतयाः परिशीलयन्तु । अधुना वैशादिसाधनानामसाधकत्वमिति । अधुना कलावित्यर्थः । आदिपदात् फालद्रव्यमन्त्रकर्तृकर्मणां ग्रहणमितरत्स्पष्टम् । उक्तं च तत्त्वार्थदीपे 'पङ्क्तिः संपद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलावि'ति । सर्वसाधनरूप इति, पङ्क्तिसाधनरूप इत्यर्थः । सहघातात्यर्या-सुरोपेन सर्वपदस्यात्र सङ्कुचितवृत्तित्वात् । दशलीलेति । 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्यान् पौपण्णमृतयः । मन्वन्तरेशानुक्रया निरोधो मुक्तिराश्रय' इत्येता दशलीला इत्यर्थः । सर्वमेतच्च द्वितीयस्कन्धसुयोधिन्यामस्मदर्यैर्विधेचितं विस्तरभयाल्लक्ष्यमात्रमेवोच्यते न कृत्स्नम् । तत्र तावद्दशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः

॥ धीकृष्णाय नमः ॥

॥ धीगोपीजनवह्नुभाय नमः ॥

॥ धीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गदनवैश्वानराचतारश्रीवह्नुभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीत

कृष्णाश्रयस्तोत्र ।

यल्लीलावसंस्पर्शाच्च रोचन्तेन्पदाशिपः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भवत्पादं साञ्जिनाचार्यान्भिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

जिसकी छीलाका लवमात्र (थोडा) भी मलीभँति सम्बन्ध हो जानेसे (जीवको) अन्यभाशिर्वाद रुचिर नहीं होते, उस, श्रीराधाके हृदयको आनन्ददानकरनेवाले आनन्दरूप श्रीकृष्णका मैं आश्रय करता हूँ ॥ १ ॥

जिसके कृपाकटाक्षसे पामर जीव भी बिना किसी प्रकारके प्रयत्नसे ही धीगोविंदको प्राप्त करता है, उन निज श्रीमदाचार्यचरणोंको मैं अर्थ (ग्रन्थसमाप्ति) सिद्धिकेलिये भक्ति-पूर्वक अभिवादन करता हूँ ।

ग्रन्थावतरण ।

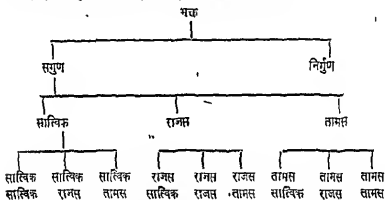
धीकृष्णका आश्रय प्राप्त होनेसे (ऐहिक पारलौकिक) सर्वकार्य सिद्ध होते हैं । निजन्तोंके सर्व कार्य सिद्ध हों, इसलिये मानों बरदान करते हों, उस तरह श्रीमदाचार्यचरण कृष्णाश्रयस्तोत्रका निरूपण करते हैं ।

कृष्णाश्रय में दशश्लोक क्यों हैं ?

इस समय देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र, कर्म आदि साधनोंके दूषित होनानेके कारण कर्ममार्गादिसाधन सर्वसाधक नहीं है । भगवद्भक्तों के सर्वसाधनरूप एवं चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही है । अर्थात् देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छहों साधन एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंको मिलानेसे दश साधना की पूर्ति होती है, और साध ही इस ग्रन्थका आशय यह भी है कि साधन और साध्य सब भगवद्रूप है, इसलिये दशश्लोकोंसेही उनकी भगवद्रूपता सिद्ध की गई है ।

दूसरा कारण यह है कि भगवान् की छीला सुर्म, विसर्ग, स्थान, पोषण, उक्ति, मन्वन्तर, ईशानुक्त्वा, निरोध, मुक्ति और आश्रयरूप दशप्रकार की है, अतः भगवदाश्रयका निरूपण भी दश श्लोकोंसेही करना उचित है ।

तीसरा हेतु यह बताया जाता है कि दशविध भक्तोंसे सेव्य श्रीकृष्ण हैं, यह दश श्लोकों से दर्शाया है । भक्तोंके भेद निम्नांकित चक्र के अनुसार हैं:—



सगुण के नवप्रकार और एक निर्गुणको मिलाकर दशविधभक्तों से सेव्य श्रीकृष्ण हैं ।

चौथा प्रयोजन यह है कि— प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, क्रकट, देवदत्त और धनञ्जय इन दशविध प्राणों से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, अतः सर्वकार्यसाधक कृष्णाश्रयका भी निरूपण दश श्लोकोंसे प्रार्थनाके निमित्तसे श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए किया है ।

उपर्युक्त देशादि साधनोंमें काल मुख्य होनेकेकारण सबसे पहिले काल पुरुषार्थको सिद्ध नहीं कर सकता यह बतानेकेलिये कालधर्मका निराकरण करते हुए श्रीकृष्णकी प्रार्थना करी है—

सर्वमागेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

अन्वय—कलौ खलधर्मिणि सति, लोके पापण्डप्रचुरे सति, सर्वमागेषु नष्टेषु सत्सु, कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

कलिकालके खल (दुष्ट) धर्मयुक्त होनेपर, लोकके विशेष कर पापण्डी होने पर तथा सर्वमागोंके नष्ट होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति—आश्रय होवै ।

कलिकाल खलधर्मों है । सब पुरुष अन्तर्दुष्ट होता है, जो व्यक्ति अन्तर्दुष्ट होता है, वह स्वकार्य में बाधक रहता है । कहीं कहीं "खलधर्मिणी" ऐसा भी पाठ है वहाँ जिसकी चेष्टा दुःसह हो ऐसा कलिकाल प्रवर्तमान होने पर—सद्दानन्द भगवान् ही मेरी गति—आश्रय—ऐहिक पारलौकिक अर्थ साधक—होवै । सारा संसार पापण्डप्रचुर बन गया है, अत एव

सब मार्ग—कर्म ज्ञान आदि पुरुषार्थ के साधन प्रायः नष्ट हो गये हैं। कर्मादि मार्ग नष्ट प्राय हो गये उसका प्रकार निम्नलिखित है—

आध्यात्मिक यज्ञादि कर्म करनेवालेको चित्तशुद्धिद्वारा आत्मसुख—अन्तःकरणकी प्रसन्नता प्राप्त होना—ऐसा निस्सका अर्थ है वैसा स्वर्ग प्राप्त होवे, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। उसमें पापघटने प्रवेश करके आत्मसुख वाचक 'स्वर्ग' शब्दका 'लोकके रूपमें भ्रम उत्पन्न किया, उससे कर्ममार्गके द्वारा होने वाली चित्तशुद्धि अटक गई (अर्थात् कर्ममार्ग जो कि आत्मसुखका साधन था, उसको संसार ही निस्सका फल है ऐसे प्रवाहमार्गका साधन बना दिया)। इसी तरह मायावादका आग्रह करके ज्ञानमार्गका, निरीश्वरवादका अङ्गीकार करके योग(वाङ्मय)मार्गका और विभूतिपरक होनेसे उपासनामार्गका 'मुख्यफलसाधकत्व नष्ट करने पर सर्वमार्ग नष्ट हो गये।

शुद्धा—भक्तिमार्गीय जीवोंको भी कलिकाल बाध करेगा ही, क्योंकि वे भी तो गृहादिमें आसक्त रहते हैं, लौकिक किया करते है, अतः उनको भी पाप लगनेका सम्भव रहता है, तब फिर आप भक्तिमार्ग से उद्धार होना कहते हैं तथा मुख्यफल साधक कह कर सर्वोत्कृष्टताका समर्पण करते हैं वह असंभव प्रतीत होता है। भक्तिमार्ग भी कर्मादि मार्गोंके समान ही है, तब भक्तिमार्गीय आश्रय करनेसे भी क्या होगा ?

समाधान—आप कहते हैं वैसा दोष भक्तिमार्गमें नहीं है। अतः कलिकाल भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिये बाधक नहीं है। प्रत्युत कलिकालमें थोड़े ही समय में फलसिद्धि होने से वह साधकही है। इसके प्रमाण में श्रीमद्भगवतादिके वाक्य विद्यमान हैं।

“हे रामन् ! कलिकाल दोष का निधि है, तथापि उसमें एक महान् गुण विद्यमान है, वह यह कि श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य कर्मकल्पनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है,” “हे रामन् ! सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, धेतायुगमें यज्ञोंसे विष्णुका यजन करने से, और द्वापर में उपासना करने से नो गति प्राप्त होती थी वह कलिकाल में भगवान् के नाम सङ्कीर्तनसे होती है।” “गुणज्ञ और साध्याही आर्यजन कलिकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि कलिकालमें केवल कृष्णसङ्कीर्तनसे ही सब काम सिद्ध होते हैं।” इत्यादि।

भक्तों को गृहादि बाधक नहीं है।

श्रीमद्भगवतमें कहा है कि—“हे भगवन् ! जो मत्क आपके मङ्गलमय नाम तथा रूपका श्रवण करते हैं तथा दूसरोंको सुनावे हैं, स्वयं ध्यान करते हैं तथा सत्य क्रियाओं में भी आपके ही चरणकमलमें चित्त लगाकर रहते हैं, उनको पुनः संसारमें आना नहीं पड़ता है। और भी भागवतमें रामा प्राचीनब्राह्मिके पुत्रोंको भगवान् उपदेश करते हैं कि “हे राजकुमारों ! जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर सत्कर्म करते हैं और मेरी चर्चामें ही

रात दिन बिताते हैं उनको यह संसार बन्धन फर्ता नहीं होता है ।” इसी प्रकार ब्रह्माजीने भी स्तुति करते हुये कहा है कि “हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य पूर्णतया आपके हुए नहीं हैं तब तक ही उनको रागादि चोरोंसे मय रहता है, घर कारागृहके समान प्रतीत होता है और मोह वेदियोंके समान ” इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तोंके गृह आदि भगवान्केलिये ही होनेके कारण वे भक्तोंको बन्धनकारक नहीं होते हैं ।

भगवद्भक्तोंकी लौकिक क्रियाएं देखनेमें लौकिकत्व हैं, पर वे सब वास्तविक रूपसे अलौकिकके समान ही हैं । क्यों कि नारदजीने व्यासजीकेप्रति कहा है कि—“सब कर्म, जन्ममरणकी जालमें फँसादेनेवाले हैं, अर्थात् कर्म द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी आशा व्यर्थ है, तथापि यदि वे कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ किये जाँय तो अवश्य मोक्षदायक सिद्ध हो सकते हैं” इस प्रमाणके अनुसार भक्तोंके कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही होनेके कारण लौकिक प्रतीत होनेपरभी उनको अलौकिकके समान ही मानना उचित है ।

असमय में भी वैदिक क्रिया कर सकते हैं ।

यदि भगवत्सेवाके समयमें वैदिक क्रिया न हो सके तो समयका अतिक्रमण हो जानेसे प्रत्युपाय नहीं होगा । क्यों कि स्वयं भगवान् ही श्रीमुखसे आज्ञा करते हैं कि “ मेरी सेवा करते करते यदि वैदिक क्रियाका काल लोप होजाय, तो उस भगवत्सेवापरायण भक्तका छुस-काल कर्म तीन करोड़ महर्षि करलेते हैं”, इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि भगवत्सेवा करते हुए यदि वैदिक कर्म यथासमय न हो सके तो उससे प्रत्युपाय नहीं है । इसी प्रकार “ भगवान् हृदयमें प्रविष्ट होकर सब पापोंको धोते हैं ” “ वे भगवदीय मेरे दण्डके पात्र नहीं बनते ” इत्यादि वाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि कदाचित् पाप लग भी जाय तो पातकका फल जो नरकादि होना चाहिये वह भक्तोंको भोगना नहीं पडता (किन्तु स्मरण रहे कि यदि कोई दम्भसे वैदिक क्रियाओंका त्याग करता है तो वह अवश्य नरक गामी होता है) भगवद्भक्त कीर्तनादिसे ही पापोंको नष्ट करदेते हैं ।

आचार शैथिल्य ।

प्रपत्ति-शरण-मार्गनिष्ठ जीवों से कदाचित् आचारादिका यथोचित पालन न हो तोभी फलसिद्धि होती है । इसविषयमें अर्जुनके प्रति भगवान् आज्ञा करते हैं कि “ हे अर्जुन सब तरहसे अन्य सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरण जा ” “अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यरूपसे मेरा मनन करता है तो उसको साधुपुरुष समझना चाहिये । क्यों कि उसका निश्चय उत्तम है ” इन भगवद्वाक्यों से, तथा लोकमें मिथ्याचारी, अनाश्रमी होनेपर भी यदि भगवद्भक्त है, तो वह जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसी तरह सारे संसारको पवित्र करता है । इसी प्रकार “ हे राबन् ! भगवद्भक्तोंमें आस्था-श्रद्धा-रत्ननेवाला कभी

प्रमादी होता नहीं है, इतनाही नहीं परन्तु यदि वह आँखें बन्दकर के दौड़े तो भी उसको न कहीं ठोकर लगनेका भय रहता है न फिसलनेका । ” इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, कि प्रपत्ति मार्गमें आचारादि के अभावमें भी फल सिद्ध होती है ।

भक्ति समग्र सिद्धिओंका जीवन है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि “हे महर्षियो ! भलीभाँति किये हुए यज्ञादि कर्म भी यदि भगवान् में भक्ति उत्पन्न न कर सकें तो वह केवल श्रम ही है ऐसा समझना चाहिये ।” “सत्य और दया से युक्त कर्म तथा तप से प्राप्त की हुई विद्या भी मेरी, भक्ति से विहीन मनुष्यको भलीप्रकार पवित्र नहीं बना सकती” । “अच्युत-भगवान् के भाव विना जो निरञ्जन ज्ञान प्राप्त होता है वह भी भलीप्रकार शोभायमान नहीं होता है, तब जो कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया जाता वह कैसे मुशोभित होसकता है ? फिर चाहे वह कैसा ही निष्काम क्यों न हो ?” “विविध कामनाओंसे परास्त पुरुषकी आत्मा जिस तरह श्रीकृष्णकी सेवा करके शान्ति प्राप्त करती है उस प्रकार यमनियमादि सत्पन्न योगमार्गसे शान्ति-लान नहीं कर सकती ।” ब्रह्मस्तुति में ब्रह्मानीने भी कहा है कि, “हे भगवन् सकल-कल्याणकारिणी भावकी भक्तिको छोड़कर जो लोग विना प्रेयके केवल शुष्क ज्ञानकेलिये क्लेश सहन करते हैं उनको परिणाममें भी क्लेश ही सहन करना पड़ता है, जैसे धान्यके विना डीलकों को कूटनेवालेको परिणाम में डीलकोंके चूर्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता” इन विविध प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भक्तिके विना कर्म, ज्ञान, कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते । परन्तु यदि वे भक्तिको सहयोग करें तो सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अत एव भक्तिही सत्कल सिद्धिओंका जीवन है ।

निःसाधन भक्ति भी सर्व साधिका है ।

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय बीस श्लोक बत्तीस और तैत्तिरीयमें कहा है कि “हे उद्भव ! कर्मकाण्ड, तपस्, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, और इसी प्रकार अन्य भी कल्याणके साधनों द्वारा जो जो कार्य सिद्ध किये जाते हैं, वह सब मेरा भक्त अनाथास्त ही भक्तियोगसे प्राप्त करता है ।” इसी तरह गीतामें भी कहा है कि “हे अर्जुन ! आर्त, निज्ञान, गर्वार्थी और ज्ञानी यह चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं ।” श्रीमद्भागवतमें शुक्ल-चार्य भी कहते हैं कि अकाम हो, सर्वकाम हों या मोक्षकी कामनावाला हो, चतुर पुरुष को तीव्र भक्तियोग से परपुरुष का भजन करना चाहिये ।” ब्रह्मानीने भी भक्तकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि “जो लोग ज्ञान प्राप्त करने की इच्छासे परिश्रम न करके भक्तोंके मुक्तसे निकली हुई भगवान्की पवित्र कृपाओंका फलसे श्रवण करते हैं तथा वेद, मन, वाणीसे उसका आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वैसे भक्त, हे अनित ! यद्यपि आप तीनों लोक में अजेय हैं तथापि आपको सहन ही में जीत लेते हैं ।” “श्रीपति भगवान्के प्रसन्न

होने पर क्या अप्राप्य रहता है ? तथापि हे राजन् ! भगवान्‌के भक्त भगवान् की सेवाके विना अन्य कुछभी चाहते नहीं हैं ।" "सर्वदुःखहर्ता प्रभु अपने भक्तको रूप, आरोग्य, और अर्थ भी प्रदान करते हैं ।" ये सब वाक्य नि साधन भक्ति भी सर्व साधिका है ऐसा सिद्ध करते हैं, भक्ति सर्व साधिका है, इतनाही नहीं, किन्तु स्वयं ही फलरूपा है । इसका समर्पण निम्नाङ्कित वाक्य करते हैं । श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्ध प्रथमाध्याय नमः श्लोक में कहा है कि—“निर्गुण-तामं परिनिष्ठित रहने पर भी मुझे प्रभुकी लीलासे आकृष्ट होकर भागवतशास्त्रका अध्ययन करना पड़ा ।” और प्रथमस्कन्ध सप्तमाध्यायके दशम श्लोकमें वर्णन किया है कि “श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमोहक हैं, कि आत्मामें रमण करने वाले जीवन्मुक्तों को भी प्रभुकी निष्काम भक्ति करने की इच्छा होती है ।” इसी तरह तृतीयस्कन्ध पंचविंशोऽध्यायके चौतीसवें श्लोकमें भगवान् कपिल ने मातृचरण देवदूतिके उत्तम भक्तिका लक्षण समझाते हुए कहा है, कि “मेरी चरण सेवामें तत्पर रहने वाले, मेरेलिये ही सब कर्म करनेवाले और सर्वदा एकत्रित होकर परस्पर प्रेमपूर्वक मेरी कथा कहने में आनन्द प्राप्त करनेवाले ऐसे बिलभक्त मेरे साथ एकात्मभावकी—भोक्षकी भी इच्छा करते नहीं हैं” इत्यादि वाक्य भक्ति स्वयं ही फलरूपा है, इस सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं ।

आधुनिक समय में कर्मादि मार्गों के अधिकार नष्ट हो जाने के कारण अनधिकारी को कर्मफल प्राप्त नहीं होता है । अतः यदि कर्मादि मार्गोंके अनुसार भी भक्तिमार्ग में रहकर आचरण किया जाय तो अधिकार भेदसे उन मार्गोंमें फला हुआ गौण अथवा मुख्य फल मिलनेका सम्भव रहता है । भक्तिमार्गमें भक्तको अनुग्रहसे ही अधिकार प्राप्त हो जाता है । यही उपदेश आचार्यचरणोंने निबन्धमें किया है । आपकी आज्ञा इस प्रकार है “इस कलिकाल में सब अधिकार निवृत्त हो गये हैं, पर यदि प्रेम पूर्वक सेवा की जाय तो वह कलियुग भी श्रीकृष्णके भक्तको फलसाधक हो जाता है” । इस वाक्यसे यह भी ज्ञात होता है कि कर्मादिसाध्यफल भक्तिमार्गमें अनिच्छा से भी भक्तको प्राप्त होजाता है, जब कि भक्तिसाध्यफल अन्य मार्गों से सम्पन्न नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि अन्यमार्गोंकी तुल्यताका गन्ध भी भक्तिमार्गमें नहीं है ।

अब यहाँ शङ्का होती है कि, कर्मादि मार्गोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता भक्तिमार्गमें यदि है भी तो रहने दीजिये, परन्तु उसमें अर्धकृत से तो कर्मादि तुल्यता होनी चाहिये । इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि “विष्णु सतत स्मरणीय है, कभी विस्मरणीय नहीं है, इस प्रकार सदा विष्णुका स्मरण करनेवालेके सब विधि और निषेध किङ्कर हो जाते हैं ।” “निस मार्गमें सृष्टि मात्रसे सकल कल्याणके भाजन प्रभु होजाते हैं उस अजन्मा पुरुष श्रीहरिके में शरण हूँ ।” “हे श्रीकृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है उस जीवका मैं, जलको भेद कर कमल जिसतरह ऊपर निकलता है उसीतरह नरकसे उद्धार करता हूँ ।”

“हे माधव, आपके जन अन्यायी तरह जन्म मरणके चक्रमें नहीं गिरते।” “सब शारङ्गों का मथन करके और बारंबार उनका विचार भी करके एकवात निश्चित हुई है कि नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य है।” इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि यदि सर्वोशेषः मक्ति न कीगई हो, थोड़ी भी कीगई हो, तोभी वह मक्ति फलसाधिका है, कर्मादिभागमें पैसा नहीं है। अतः पकृत विषयमें इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं ॥ १ ॥

पवित्र देश में निवास करनेसे भी धर्मादि पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है, और आप कहते हैं कि अन्य सब साधनोंका त्याग करके श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये इसमें प्रमाण क्या है ? इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि पुण्यस्थान भी इस समय पुरुषार्थसाधक नहीं हैं; यही बात श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं—

श्लेच्छाकान्तेषु देशेषु पापैकानिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अन्वयः—देशेषु श्लेच्छाकान्तेषु ससु च पापैकानिलयेषु, सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

देश श्लेच्छोंके अधीन हैं। माना कि श्लेच्छोंने देशपर आक्रमण किया है, पर यदि श्लेच्छ भी न्यायपरायण हों तो आपकी क्या हानी है ? इस आशेषका उत्तर देते हैं कि श्लेच्छ तो मूर्तिमान् पाप ही हैं, और पुण्यस्थान पापरूप श्लेच्छोंके मुख्यस्थान (राजधानी) बने हैं; दूसरा अर्थ क्या आप तो पापियोंका अथवा पापोंका घर हैं, तीसरा अर्थ यह है कि अज्ञ वद्व आदि देश श्लेच्छों के अधीन है और पाप के भी मुख्य स्थान बन गये हैं, कि जहाँ जानेसे ही पुनःसंस्कार प्राप्त होता है। यहां यह भी शङ्का हो सकती है कि पुण्य स्थलोंमें भी वणिक् आदि जातिके भले आदमी रहते होंगे, तो फिर श्लेच्छोंसे क्या मतलब है ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वणिक् आदि लोक भी स्वधर्माचरण करनेवालों पर जो आपत्तें आती हैं उनको देखकर किङ्कर्तव्यविमूढ बन गये हैं, अर्थात् स्वधर्मनिष्ठपर जो आकृतें आती हैं उनको देख कर स्वधर्माचरण न करना चाहिये या लौकिक कार्य न करना चाहिये इसका निर्णय वे लोग नहीं कर सकते। अर्थात् सर्वधर्मसे अञ्छा ही होगा ऐसा निश्चय उन लोगोंमेंसे चले जानेके कारण धर्म विषयक श्रद्धादिके अभावमें धर्माचरण करनेवालोंको ये सहायक भी नहीं होते हैं। अतः श्रीकृष्णके आश्रयके बिना पवित्र देशोंपर अपने उद्वारका व्यापार रखना निरर्थक है। श्रीकृष्णका आश्रय करनेवालेको देश भी अनुकूल हो जाते हैं। अत एव श्रीमद्भागवतमें देवोंने “कृष्णसेवा करनेकेलिये भारतवर्षमें मुकुन्दसेनोपयोगी देह प्रदान कीजिये, हम भी भूमिपर जन्म लेना चाहते हैं” ऐसा कहा। इस प्रकार पुण्यभूमिमें स्थिति करनेसे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है, अतः

श्रीकृष्णका आश्रय ही करना उचित है, अतः मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही हो, ऐसी प्रार्थना श्रीमहाप्रभुजी करते हैं ॥ २ ॥

गङ्गादि तीर्थ भी सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले माने गये हैं, तो फिर आश्रयकी प्रार्थना किसलिये करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वोक्त देशादि छः प्रकारके साधनोंमें से तृतीय साधन द्रव्य भी फलसिद्धि नहीं करता है यह दर्शानेकेलिये तीर्थ भी साधक नहीं हैं ऐसा निरूपण करते हैं:—

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्वह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

अन्वयः—इह गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।

गङ्गा आदि मुख्य तीर्थ दुर्गनोंसे ही आवृत हैं । गङ्गादि तीर्थोंमें ब्राह्मणादि भी रहते हैं, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि सब तीर्थ दुष्टोंसे ही सेवित हैं ? ब्राह्मणादि की स्थिति वहां नित्य रहती है इस कारण अतिपरिचयसे उनकी तीर्थोंकेप्रति आदर-बुद्धि कम हो जाती है, तथा वे दान दक्षिणादिसे निर्वाह करते हैं, इसलिये उनके पीछे भी उपाधियाँ लगी ही रहती हैं, अतएव उन में भी दुष्टता रहती ही है । सर्वविध दोषोंको दूर करनेवाले तीर्थ वहां विद्यमान हैं तो फिर उनमें दोष किस प्रकार रह सकता है; प्रेसी शङ्का भी नहीं हो सकती । इसका कारण यह है कि उनमें स्थित भगवान्से बहिर्मुखता तथा नास्तिकता आदि दोषोंका निवारण तीर्थ भी कर नहीं सकते । यह बात निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होती है । “सौ बार अच्छी तरह गिद्धी लगाकर जन्मसे आगतक प्रतिदिन ध्यान करने-वाला भावदुष्ट मनुष्य, गङ्गाके सम्पूर्ण जलसे भी शुद्ध नहीं हो सकता । ऐसा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं; मत्स्यादि जलमें रहनेवाले प्राणी रातदिन (गङ्गाआदिके) जलमें ही रहते हैं, परन्तु वे कभी ध्यानके फलको प्राप्त नहीं कर सकते ।” “मनुष्य जो कर्म श्रद्धा और विधिपूर्वक शुद्ध भावसे करते हैं, वही उसके अस्य सुखकेलिये कल्पित होते हैं; अर्थात् उन्हींसे उनको अस्य सुखकी प्राप्ति होती है ।” “विधि और श्रद्धासे रहित और भावदुष्ट किये हुए कर्मका फल मनुष्यको प्राप्त नहीं होता है; इसका कारण यह है कि जैसे कर्मका फल असुर हरण करलेते हैं । अतः विधिहीन और भावदुष्ट कर्म करनेवाला अत्यन्त मूढ तथा अकृतार्थ समझना चाहिये । श्रद्धारहित, दुष्ट अन्तःकरणवाला, नास्तिक, संशयग्रस्त और कारणहीन ये पाँचों तीर्थके फलको प्राप्त नहीं करते हैं ।” “जिस तरह गङ्गा आदि नदियाँ मदिरासे पूर्ण घटको पवित्र नहीं बनादेती है, उसी तरह नारायणसे विमुख मनुष्यको कोई भी प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकता ।” ये सब आदित्य पुराण, योगिया-जबलक्य, वायुपुराण तथा श्रीमद्भागवतके वचनों से सिद्ध होता है, कि तीर्थों में भगवान् से बहिर्मुख तथा नास्तिक मनुष्यको पवित्र बनानेकी सामर्थ्य नहीं होती है ।

यहां इस तरह शङ्का होती है कि—वस्तुमें शक्ति होनेपर कार्य अवश्य होता है, वह हुए बिना रहता ही नहीं, जैसे दाहकत्व शक्ति अग्नि में विद्यमान है, और, वह जलाती नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार तीर्थमें पवित्र करने की शक्तिके विद्यमान रहते वे पवित्र नहीं कर सकते, ऐसा कदापि न होगा।

इसका समाधान करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, कि तीर्थों में पवित्र करने-वाला जो आधिदैविक स्वरूप है वह तिरोहित हो गया है, अतः तीर्थ उनको पवित्र नहीं कर सकते। तीर्थोंका आधिदैविक स्वरूप सत्पुरुषोंके सम्पर्के ही प्रादुर्भूत होता है, अत एव निबन्ध में आपने कहा है कि “काशी आदि तीर्थोंमें किसी समय किसी एकाव की मुक्ति होती है” तब समझना चाहिये कि जीवके ऊपर प्रभुने अनुग्रह किया है।” प्रभुके अनुग्रहके बिना किसी की भी मुक्ति नहीं होती है। प्रभु तीर्थोंका माहात्म्य बढ़ानेके लिये तीर्थोंके द्वारा भी किसीको मोक्ष प्रदान करदेते हैं। और श्रीमद्भगवत में भी कहा है कि “भगवद्भक्त तीर्थोंमें घ्रान करते समय अपने हृदयकमल में विराजमान प्रभुके साथ तीर्थोंका सङ्ग करा कर तीर्थों को पवित्र बनाते हैं। अर्थात् तिरोहित आधिदैविक स्वरूप उनमें प्रकट कर देते हैं, इसको तीर्थीकरण कहते हैं। अन्य प्रकारसे तीर्थों को और क्या तीर्थ बनाना है। नल में कुछ द्रव्य तो दिखाई देते ही नहीं। इस प्रकार द्रव्यस्वरूप तीर्थों में भी स्वतन्त्ररूपसे पुरुषार्थ सिद्ध करने की सामर्थ्य विद्यमान नहीं है अतः श्रीकृष्णका आश्रय ही रक्षणीय है ॥ २ ॥

यदि कर्म करनेवाला अच्छा हो तो सब फल प्राप्त हो सकता है। तो फिर अन्य का निषेध कर आश्रयकी ही प्रार्थना क्यों? इस शङ्काका समाधान करके कर्मकरने वालोंका स्वरूप भी फल सिद्ध नहीं कर सकता, यही बात चतुर्थ श्लोक में निरूपण करते हैं:—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्भवे ॥ ४ ॥

अन्वयः—सत्सु अहङ्कारविमूढेषु पापानुवर्तिषु लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्णः एव मम गतिः अस्तु ।

अहङ्कारके वशीभूत पण्डितगण—हम ही शाश्वत है अन्य कोई नहीं—इत्यादि प्रकार के भ्रम्याभिमानसे विमूढ हो गये हैं। जिस तरह उनका ज्ञान अभिमानके हो जाने से दूषित हो गया है, वैसे ही उनकी कृति भी दूषित हो गई है। इसका कारण यह है कि वे लोग द्रव्यादि का लाभ और पूजा के लिये ही यत्न करने वाले होते हैं। विष्णुयागादिक पारमार्थिक कर्म भी वे लोग ऐसा समझकर ही करते हैं कि—इससे हमको द्रव्य प्राप्त होगा और लोकमें प्रतिष्ठा बदेगी। साथ ही बुद्ध पुरुषोंका सङ्ग करनेसे सङ्गनम्य दुष्टता और पापका अनुसरण करनेसे अज्ञान्य दुष्टता इसप्रकार दोनों प्रकारकी दुष्टता उनमें होनेसे वे पण्डित भी स्वतन्त्रतासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु भगवदाश्रय करके भगवत्पूजासे वेदार्थ और स्वदोष की स्फूर्ति होने

होता है। क्योंकि इन वाक्यों में जीव को प्रवृत्त कराने वाला, सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण, जीवमात्रके लिये सेव्य, सर्वविध कर्मोंका फलदाता एकमात्र भगवान् ही है ऐसा कहा है। सब जैमिनिके मतके अनुसार उपपन्न नहीं हो सकता इसी तरह यज्ञोंसे देवों की तृप्ति तथा देवोंने यज्ञ किया ऐसा प्रतिपादन भी किया गया है। अतः यह भी स्वीकार करना चाहिये कि मन्त्रकी देवता मन्त्रसे पृथक् हैं और वह चेतन रूपा है।

“हे अर्जुन ! उसके पश्चात् मुझे तत्त्वतः जानकर मेरेमें प्रवेश करते हैं।”

“हे अर्जुन ! तू मुझे ही प्राप्त करेगा।” “ब्रह्मका आकार आनन्द है” इन वाक्योंमें भगवत्सायुन्यको मोक्ष कहा है। तथा आनन्दाकार होनेके कारण भगवान्को ही फल कहा है। जिसमें आनन्दका अनुभव हो वही फल है अतः न्याय और साहच्य मत भी ध्रौतसिद्धान्तके अनुकूल नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह भिन्न भिन्न वादोंके द्वारा जो कर्म का विनाश हुआ है उसका दिग्दर्शन कराके अब उन वादोंके द्वारा जो व्रतादिका विनाश किया गया है वह भी बताते हैं स्वमत के आग्रह से वे लोग एकादश्यादि व्रत भी दशमीके वेध से युक्त ही करते हैं, जिसका कि शास्त्रों में पूर्ण निषेध है। इस प्रकार व्रतोंका भी विनाश हो चुका है। यद्यपि व्रत भी एक प्रकारका कर्म ही है तथापि वह ज्ञानादिका अङ्ग होने से यहाँ उसका कर्मसे पृथक् उपादान किया गया है।

अब यहाँ शङ्का उपस्थित होती है कि एकादश्यादि व्रत करनेका वे लोग भी उपदेश करते हैं और स्वयं भी करते हैं, यदि वे लोग व्रतों को मिथ्या, फलरहित मानते होते तो वे क्यों आचरण करते हैं और उपदेश करते हैं ? साथ ही उन मतोंके प्रवर्तक शङ्कर जैमिनी गौतम आदि हैं। यह शङ्का भी अयुक्त है क्योंकि उनका प्रयास पातण्डका प्रचारकरनेके लिये ही है। यह बात वाराह पुराण के “हे महाबाहु रुद्र ! तुम मोह शास्त्रों की रचना कराओ और सत्यको मिथ्या बताओ, अपने स्वरूप का प्रकाश करो और मुझे गुप्त रहनेदो” इह सार्धश्लोकसे तथा पद्मपुराणके “त्वामाराध्य तथा शम्भो गृहीष्यामि वरं सदा। द्वापररादौ युगे भूत्वा कलयामानुपादिषु ॥ स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्भिः सुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेपोत्तरोत्तरा ॥” हे शम्भो ! द्वापररादियुगमें मैं कलात्मक अवतार लेकर मनुष्यादिकमें तुझारा अराधन करके वर ग्रहण करूंगा और आपको नवीन शास्त्रोंकी कल्पना करके लोगोंको मेरेसे विमुक्त करना चाहिये, और मेरे स्वरूपको छिपा-

१ त्वं च रुद्र महाबाहो मोक्षसाधनं कारणं ।

अतन्प्यानि नितन्प्यानि दशैयस्व महाभुज ॥

प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च माङ्गव ॥

कर अपना स्वरूप ही प्रगट करना चाहिये, ताकि यह सृष्टि उत्तरोत्तर चलती रहे। इस भगवदाज्ञाके अनुसार शङ्करादिकी प्रवृत्ति है, वे लोग भी जो कर्म करते हैं वह भी अपनी महत्ता दर्शनकेलिये ही करते हैं, साथ ही उनका यह भी उद्देश रहता है कि उनके अनुयायी भी वैसा ही कर्म करें। यदि ये लोग स्वयं वैसा न करके अनुयायियोंको ही उपदेश करें तो उनका कोई मानेगा भी नहीं। गीतामें भी कहाहै कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।" अर्थात् जिस प्रकारका आचरण महत्पुरुषोंका रहता है, उसी प्रकारका आचरण अन्यजोम भी करते हैं। इसी न्यायके अनुसार यदि वे स्वयं न करें तो उनके उपदेशके अनुसार अन्यलोग कैसे चल सकते हैं? शङ्करादि मतप्रवर्तकोंके द्वारा आधुनिक लीगोंमें मोह उत्पन्न हो गया है।

ये मतप्रवर्तक प्रायः सब देवता हैं—तो फिर आप देवताओंसे प्रवर्तित मतोंको पास्तण्ड-मत क्यों कहते हैं? ऐसी शङ्का भी उपस्थित नहीं हो सकती। क्यों कि मतप्रवर्तक देवता है इतना एकमात्र कारण रहने से ही यह मत सन्मत है ऐसा नहीं कह सकते। चिन्तु जो मत वेदसे विरुद्ध न हो और वेदमूलक हो उसीको सन्मत कह सकते हैं। अन्यथा घृहस्पति प्रवर्तित चार्वाक (नास्तिक) मतको भी सन्मत कहनेकी आपत्ति उपस्थित होगी। इस तरह प्रस-त्ताप्रसक्तसेही अटकना ठीक है। ये विविचित्र भी कर्मफलसाधक नहीं हैं; अतः मेरी गति-आश्रय—श्रीकृष्ण ही है ॥ ६ ॥

धर्मसे पाप दूर होता है" "धर्ममें सब प्रतिष्ठित है" यह श्रुति पहिले जीवको दोष निवृत्तिकेलिये धर्माचरण करनेकी आवश्यकता पताती है। यह ठीक भी है, कि धर्माचरणके द्वारा पित्तशुद्धि होनेसे भाववन्नाहातस्य तथा भगवत्स्वरूपको समझकर ही भागवदाश्रयादि करने चाहिये, नकि पूर्वाकी दोषयुक्त अवस्थामें। कहां योगियों को भी भगवन् भगवत्स्वरूप और वहां यह दोषयुक्त जीव, वह उसको कैसे प्राप्त कर सकता है? इस तरह शङ्का करके "जितको यह भगवान् धरण करते हैं उसीको वह लभ्य है।" "हे रङ्गण! भगवान्के स्वरूपकाज्ञान, तपसे वा वैदिक कर्मोंसे, जन्मादिके दानसे परोपकारसे, वेदाध्ययनसे, जल, अग्नि और सूर्यादिकी उपासनासे प्राप्त नहीं होता है। परन्तु भगवद्दर्शकोंके चरणकी रज शिखर धारण करनेसे ही—अर्थात् भक्तोंकी सेवा करनेसे ही—प्राप्त होता है।" "हे अर्जुन। मेरी अनन्य भक्तिये ही मेरे स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान, जैसा कि तूसे हुआ है, मनुष्य को हो सकता है। हे परन्तप! भक्तिये ही मैं तत्त्वतः ज्ञात हो सकता हूं और वे जीव (जिन्होंने मेरा स्वरूप तत्त्वतः जानलिया है) मेरे भीतर प्रवेश कर सकते हैं।" इत्यादि वाक्य स्पष्टतया यह सिद्धान्त दर्शाते हैं कि भाव-दीपके अनुग्रहसे सद्गोपनीयको भी भगवत्स्वरूप गम्य हो सकता है, इसलिये, और भगवान्का माहात्म्य भी शास्त्रोंमें वैसा ही—अधमोदास्क आदि—प्रसिद्ध है इसलिये भी सद्गोपनीयोंकेलिये दोषनिवृत्तिके अर्थ प्रायश्चित्तादि नहीं, पर महापुरुष, श्रीपदाचार्यचरण एवं उनके वंशजके द्वारा शरण ग्रहण करना ही है। उसीसे सब कुलसिद्ध हो जायगा। अर्थात् भक्तोंके भर्मादि पतुर्विच पुरुषार्थरूप भगवान् ही होने के कारण भक्तोंको भगवान्के आश्रयके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहनाता है।

पर फल सिद्धि कर सकते हैं, क्यों की वेदका तात्पर्य भगवान् या भगवद्भक्त जानते हैं, ऐसा होनेसे भगवदीय होनेसे ही वेदका तात्पर्य समझ सकते हैं । इस तरह भगवदाश्रयके बिना पण्डित भी कुछ सिद्ध नहीं कर सकते । अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय होवे ॥ ४ ॥

सुनते हैं कि शास्त्रों में मन्त्रों से फल सिद्धि बताई है, तो फिर आश्रय ही करनेकी क्या आवश्यकता है ? मन्त्रों की शक्ति भी नष्ट होगई है, अतः मन्त्र भी कुछ नहीं कर सकते यह दर्शाते हैं:—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अन्वयः—मन्त्रेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अव्रतयोगिषु तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

वेदोक्त तथा नारदपंचरात्रादि आगमोक्त मन्त्र; तात्पर्य, फल तथा देवताके स्वरूपज्ञानके अपात्रसे नष्ट हो गये हैं । वैदिकमन्त्र नियमपूर्वक पठे नहीं जाते, अतः उनका सामर्थ्य नष्ट हो गया है । वेदाध्ययनके नियम गुरुकुलमें निवासकरना, ब्रह्मचर्यपालनकरना, शूद्रोंके सामने न पढ़ना, अनध्यायके दिनोंमें न पढ़ना इत्यादि हैं । ताम्ब्रिक मन्त्रोंका तात्पर्यही समझमें नहीं आता है, अतः उसका अर्थ और फल समर्पक देवता उन मन्त्रोंसे तिरोहित हो गई हैं, इस तरह तांत्रिक मन्त्रोंका भी सामर्थ्य नष्ट हो गया है । तथापि भगवान्का ही आश्रय रखनेवालेको मन्त्रोंसे भी फल प्राप्त होता है । इसके विषयमें “जितके स्मरणसे और नामका उच्चारण करनेसे कर्म की झुट्टि पूरीकी जाती है, उस अच्युत भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ।” इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं । इस तरह मंत्र भी नष्ट सामर्थ्यवाले होनेसे मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही है ॥ ५ ॥

मीमांसा आदिसे मंत्रोंके अर्पका निर्णय करके कर्मसे ही फल प्राप्त हो सकता है तो फिर आश्रय की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शङ्का करके कर्म भी फल साधक नहीं है यह जतानेकेलिये नीचेके श्लोकसे आश्रयकी प्रार्थना करते हैं:—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मव्रतादिषु नानावादविनष्टेषु पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु ।
सोमयाग आदि सब कर्म और एकादशी आदि सब व्रत विविध वादोंसे नष्ट हो चुके हैं । वे वाद इस प्रकार हैं—

(१) सारा प्रपञ्चमिथ्या है, अर्थात् वेदभी प्रपञ्चमध्यस्थाती होनेके कारण मिथ्या हैं, अतः जैसे प्रपञ्च व्यावहारिक होनेके कारण व्यवहारमें ही प्रमाण है वैसीही वेद और वेद-

विहित कर्मको भी व्यवहारमें ही प्रमाण मानना चाहिये । वास्तविकरीतिसे कुछभी करनेका या प्राप्तकरनेका नहीं है ।

(२) पूर्वमीमांसाकारका मत है कि "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोये" इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मा आदिका उत्कर्षभी यज्ञोंके द्वारा ही सुना जाता है । और उत्तरोत्तर कर्ममें प्रवृत्त होनेमें पूर्ववासा ही कारण होनेसे कर्म ही करना चाहिये । कर्मसे ही फलसिद्धि होगी । कर्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपास्य, फलदाता; किंवा प्रवर्तक नहीं है । इसी तरह मन्त्रकी देवता भी मन्त्रसे एवम् चेतनरूपा कोई नहीं है, किन्तु मन्त्ररूपा ही है । अर्थात् किसी देवताकी कृपा सम्पादन करके किसी प्रकारके फल की प्राप्ति करनेके लिये भी कर्मके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है । किन्तु उपर्युक्त प्रकारसे उपास्य, फलदाता या प्रवर्तक सब कुछ कर्म ही है ।

(३) जैनाधिकों का मत है कि शास्त्रसे प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है, तब दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर जाती है, यही फल है । ईश्वरोपासना करनेकी अथवा ईश्वरको ही फलरूप माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

(४) नितीश्वर वादी साङ्ख्योंका मत है कि प्रकृति और उसके विकारों की उपाधिका पित्त्य करके पुरुष नव अपनी स्थिति करता है वही फल है, भगवान् फल नहीं है ।

इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारके वाद प्रचलित है । इनसे विशेषकर कर्माका नाश किया गया है । अतः उलटा ही अर्थ ग्रहण कर देनेसे कर्म भी फलौत्पादक नहीं रहे । संखा वैदिक सिद्धान्त देखनेसे ये सब वाद एक प्रकारके प्रखण की तरह प्रतीत होते हैं । क्योंकि "यह सब पुरुष ही है" "यह सब ब्रह्मात्मक है" यह भगवान् सबको पशोभूत रखता है सबके उपर शासन करता है, इत्यादि वाक्य यह सन प्रपञ्च ब्रह्मरूप है, और अत एव सत्य है, इसलिये कर्म भी सफल है यह बताते हैं । अत एव शाङ्कर सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है ।

"भगवान् उसी से अच्छे कर्म करता है जिसको जंची गति से छेनाना है । और उसीसे निकृष्ट कर्म करता है जिसको अयोग्यति से छे जाना है ।" "हे अर्जुन मैं ही सम्प्र जगत् की उत्पत्तिक कारण हूँ" "मला ऐसा कौन देह धारी है जो मुकुन्द भगवान् का भजन न करेगा ।" "देव हो, असुर हो, मनुष्य हो यज्ञ या गन्धर्व हो, मुकुन्द भगवान् के चरणों की सेवा करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।" "भगवान् ही सबके फल दाता हैं, क्योंकि जो सबकों नियामक हो वही फलदाता सकता है । यज्ञ तृप्त हुए देवता यज्ञ करनेवाले को तृप्त करते हैं ।" "निश्चय ही देवोंमें यज्ञ किया था ।" इत्यादि प्रमाणों से जैमिनी का मत भी श्रुति सृष्टि और व्यास सूत्रों से विरुद्धसिद्ध

भगवान् भक्तोंके धर्मादिरूप किस प्रकार हैं यह निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता है:—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अन्वयः—अजामिलादिदोषाणां नाशकः, अनुभवे स्थितः ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव मम गतिरस्तु ॥

अजामिल, गजेन्द्र, अहल्या आदिको अपने दोषके नाशकरने वाले भगवान् हैं ऐसा अनुभव हुआ था। अथवा अजामिलके अतिरिक्त अन्यभक्तोंके अनुभवमें आप दोषनाशकरूपसे आये थे। अजामिलका उद्धार परम्परा सम्बन्धसे अपने नामके द्वारा किया था। इसमें अपना सम्पूर्ण माहात्म्य भी दर्शाया है। इन तीन विशेषणोंसे धर्मका कार्य-पापको दूर करके इष्टकी प्राप्तिकराना वह भी भगवान् स्वयं करते हैं। इसलिये दोषके उपस्थित होनेपर भी भक्तोंको दोषनिराकरणार्थ शरणकी भावना ही करनी चाहिये प्रायश्चित्तादि करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा परम्परा सम्बन्ध से भी आप दोष निवारक हैं। (साक्षात् सम्बन्ध होजाय तब क्या कहना है?) अजामिल का उद्धार आपने अपने नामके साम्यसे किया। भक्तोंके अनुभवसे आप अनुभवमें आते हैं, इसी तरह लीलारूप निखिल माहात्म्य भी आप ही दर्शाते हैं; अतः श्रीकृष्ण ही मेरी गति-आश्रय-होवै ॥ ७ ॥

“सदा अध्ययनकरना चाहिये” जिस जिस यज्ञका अध्ययन करते हैं उन उन मन्त्रों का फल अध्येता को प्राप्त होता है, ”अग्नि, वायु और सूर्यका सायुज्य प्राप्त होता है” इत्यादि श्रुतिसे कर्म मार्गमें स्थित रह कर भी ब्रह्मयज्ञ अध्ययनके द्वारा अग्नि आदिका सायुज्य प्राप्त कर सकता है, इसी तरह “जो लोग अव्यक्त, अवर्णनीय, सर्वव्यापी अक्षर की उपासना करते हैं वे मेरे अक्षर रूपको प्राप्त होते हैं” इत्यादि वाक्य ज्ञानसे भी अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति बतावे हैं, तब फिर श्रीकृष्णका आश्रय करनेमें क्या विशेषता है? और यदि विशेषता न हो तो उसकी प्रार्थना भी क्यों करें? ऐसी शङ्का करके उन उन देवताओं और अक्षरके सायुज्यके बीचमें तथा अक्षर और श्रीकृष्णके सायुज्यके बीचमें क्या न्यूनाधिक्य रहा है यह समझानेकेलिये सब स्वरूपोंका निरूपण करके भगवान् भक्तोंके अर्थरूप किस प्रकार है वह बताते हैं:—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

१ यहाँ पूर्णानन्दशब्दके तीन अर्थोंका स्वीकार किया है। (१) पूर्ण आनन्दसे जो होता है (२) पूर्ण आनन्द जिसमें है (३) जिससे पूर्ण आनन्द होता है। प्रथम अर्थकी यह स्वारस्य है कि मर्यादा पुष्टिभक्तियो पूर्णानन्दका दान करने में आप साधन सापेक्ष है, द्वितीय अर्थसे आप पूर्ण आनन्द स्वरूप है, गणितानन्द नहीं। तीसरेका अर्थ पुष्टि भक्तोंके पूर्णानन्दका दान करनेमें आप साधन निरपेक्ष है।

सकला देवाः प्राकृताः बृहत् गणितानन्दकम्, पूर्णानन्दः हरिः, तस्मात् कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ॥

सब देवोंकी उत्पत्ति सत्त्वाहङ्कारसे हुई है अतः वे सब देवगण अपनी उत्पादिका प्रकृति—त्रिगुणात्मिका माया—के अधीन है। अक्षरब्रह्म गणितानन्द है। अब “उस आनन्दका विचार यहां होता है” इस वाक्यसे प्रारम्भकरके “त्रैनापति आदिके आनन्दसे शत गुणित-काधिक आनन्द वह अक्षर ब्रह्मका आनन्द है” इस वाक्योक्त सम्पूर्ण प्रयात्कसे अक्षर ब्रह्मके आनन्दकी गणना की गई है। और यदि ब्रह्मादि देवोंका सायुज्य भी प्राप्त हो तो भी क्या हुआ? वहांसे भी तो जीवको संसारमें आनेका सम्भव रहता ही है इसका कारण यह है कि भगव-द्वीताके नवमाध्यायका सोलहवाँ श्लोक “हे कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त होनेवाला जीव ही फिरसे इस संसारमें आता नहीं है।” इस वाक्यके अनुसार ब्रह्मा पर्यन्त सबदेवोंके साथ सायुज्य होने पर भी वह सायुज्य नहीं माना जाता, वह सायुज्य गुणातीतके साथ न होनेके कारण और संसारमें फिर उत्पन्न होना पडता है इसलिये तथा अक्षरब्रह्म वाला होनेसे ‘पुण्यशील होनेसे स्वर्गसे गिरता है’ इस वाक्यके अनुसार जैसे स्वर्गमें जानेका नाम मोक्ष नहीं है वैसे ही वह सायुज्य सापक्षिक होनेसे मोक्षरूप नहीं हो सकता। अब रही ज्ञान मार्गीय अक्षर ब्रह्मके साथ सायुज्य की बात, तो तो यद्यपि अक्षर ब्रह्ममें लय होना निर्गुण मुक्ति हो सकती है, तथापि उसमें भी परिमित ही मुक्त होनेके कारण अत्यन्त क्षुधार्तको अतीत स्वल्पमोहन कृत नहीं कर सकता उसी तरह बहुत समयसे आनन्दकी गवेषणा करनेवाले जीवात्माको गणि-तानन्द प्राप्त होने पर भी क्या होगा? उसके तो पूर्णानन्द प्राप्त होने पर ही तृप्ति होगी। यहाँ एक बात विचार करने योग्य है, वह यह कि गणितानन्दका व्याकरणकी रीतिसे क्या अर्थ है—“गणितानन्द” में “क” प्रत्यय अज्ञातार्थ और वह स्वार्थीय हुआ है। उसका तात्पर्य यह है कि अक्षर ब्रह्मका आनन्द प्रत्योत्पत्तिके आनन्दकी अपेक्षा अस्पष्ट एवं न्यून है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण मुक्तिके दाता तथा पूर्णानन्द होनेके कारण उनका ही आश्रय स्तगीय है।

“यही यह यदुकुलश्रेष्ठ और कुलकुलश्रेष्ठ नारायण और नर मगवान् हरिके अंशरूपसे पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये अवतीर्ण हुए हैं” “हरिके अंशरूप नर और नारायणसे पृथ्वी अतीव शोषाको प्राप्त होती है।” इत्यादि वाक्योंसे श्रीकृष्णको तो अंश-रूप कहते हैं, और आप यहां बतते हैं कि वे पूर्ण हैं यह कैसे सम्भव हो सकता है? साथ ही ‘भगवान्ने नन्मलिया’ इत्यादि वाक्यसे भगवान्का जन्म भी सुनाताता है, अर्थात् देवादिके देह भी पांचमौलिक तथा उत्पत्तिशाली होनेसे भगवान्के श्रीअङ्गको भी पांचमौलिक एवं नन्य

कहना चाहिये । इसी तरह यह आनन्द रूपत्वका प्रतिपादन करते हैं यहभी किस तरह माना-जाय ? और मुनिये, आनन्द अन्तःकरणका धर्म होनेको कारण भगवान्को आनन्दरूप एवं आनन्द जनक किस तरह कह सकते है ? इससे तात्पर्य यह निकलता है कि आपके कहनेके अनुरूप भगवान्का पूर्णत्व, आनन्दाकारत्व, आनन्दवत्त्व, अथवा आनन्दजनकत्व ऊपर बताया हुये प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सकता ?

अब इस लम्बे चौड़े पूर्वश्लोकका समाधान भी मुन लीजिये जो लोग उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत करते हैं उनको उन प्रमाणोंका अर्थ ही ज्ञात नहीं है । भक्तोंकी आर्तिक नाश कर उनको आनन्दका दान करना यही भगवान्के अवतारका मुख्य प्रयोजन है । यही प्रयोजन यहाँ सिद्ध करना है इसीलिये भगवान् मूल स्वरूपसे अवतीर्ण हुए । पृथ्वीका भार भी दूर करना था इसलिये : अपने अंशभूत नर और नारायणभी यदुकुलोत्पन्न नारायण और कुरुकुलोत्पन्न अर्जुनमें आविर्भूत है । अर्थात् यदुकुलश्रेष्ठ एवं कुरुकुलश्रेष्ठमें उन अंशोंने प्रवेश किया है, अत एव वे दोनों यदुद्वह और कुरुद्वह हुए हैं । जो, मूलस्वरूप है । उसमें अंशत्वकी सम्भावना न होनेके कारण यदुद्वहत्व और कुरुद्वहत्व न था । तात्पर्य यह कि तत्त्वकार्योंको सम्पादन करनेके हेतु भगवान्को व्यूहों में तत्त्वदंशों की अवश्यकता रहती है, अतः नर और नारायण भी सङ्कर्षणदंश होनेके कारण भूभार हरणार्थ अपेक्षितथे । भगवान् भक्तोंकी आर्तिनिवृत्ति करते हुए आनन्ददानार्थ पूर्णरूपसे तथा भूभारहरणार्थ सङ्कर्षणके अंशरूप नरनारायण को भी अपने में प्रविष्ट करारकर प्रकट हुए । इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त वाक्यों में उभय अंशों को ही अवतार माना जाय । अन्यथा पूर्णका अवतार न माननेसे “कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं” “वसुदेव के गृहमें परपुरुष भगवान् प्रकट होंगे” इत्यादि वाक्यस्तोत्र विरुद्ध हो जायगा । अतएव तत्त्वार्थदीपके भावतार्थ प्रकरणमें आप आज्ञा करते हैं कि “पुष्टिकार्य करनेकेलिये नारायणसे अतिरिक्त स्वरूपसे भगवान् आविर्भूत हुए हैं” नर.तो स्वयं आपेशवारक है, भूभार हरण के अतिरिक्त कार्य, पूर्ण कृष्णसे ही किया जाता है, अन्यसे नहीं । “परित्राणाय साधूनां” यह वाक्य मर्यादा भक्तोंका रक्षण करनेकेलिये अंशाकारका द्योतक है, और भक्तोंकी आर्ति निवृत्तिपूर्वक आनन्ददानकरण यह पुष्टि है । इस उन प्रकारके मार्गोंका स्थापन करनेकेलिये अवतीर्ण भगवान् भी यदि अंशरूपसे ही अवतीर्ण हों और पूर्णरूपसे न हों तो पुष्टिकार्य सिद्ध न होता । अतएव अपने दोनों अंशोंसे पृथ्वीको मुशोभित की ।” इस प्रकार विचार करनेसे मानना पड़ेगा कि भगवान् का अवतार श्रीकृष्णरूपसे पूर्णवतार ही है । परन्तु तत्त्वकार्योंको सम्पादन करनेकेलिये उनके भीतर उभय अंश प्रविष्ट है । तथा देहके साथ रहनेवाला पांचभौतिकत्व वा मन्यत्व आदि नियम भी प्राकृत देहकेलिये ही समझना चाहिये । अप्राकृतके विषय में तो वेदके अनुसार ही अर्थासिद्ध करना पड़ेगा । अर्थात् भगवान् श्री कृष्णका श्रीअङ्ग अप्राकृत होनेसे “आनन्दमात्र करपादमुतोदरादिः” इत्यादि द्युस्तुक्त आनन्द मात्र ही

जानना उचित होगा। अन्यथा प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंका नियम समान होनासे अस्म-
दादिके ज्ञान इच्छा आदिके समान ही भगवान्के ज्ञान इच्छा आदिको भी—अनित्यत्व प्राप्त होगा।

“भगवान् का कर्तृत्व तो, ज्ञान इच्छा आदिसे भी उपपन्न हो सकता है, उसी तरह
देहका आनन्दमयत्व तथा नित्यत्व प्रत्यक्षसे भी नाशित है, तो फिर आनन्दमय तथा नित्य
देहका स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो वह भी
अनुपपन्न होगी। क्योंकि “जहां जहां कर्तृत्व रहता है वहां वहां देहवत्ता भी रहती है।
जैसे घटके प्रति कुम्हारका कर्तृत्व कहने से वह कुम्हारभी देहवारी है ऐसा ज्ञान अवश्य
ही होता है। इसी तरह “जहां जहां देहवत्ता नहीं है वहां वहां कर्तृत्व भी नहीं है”
ऐसा भी नियम ही है। जैसे मोस्तक़े प्राप्त किये हुए जीवात्मामें देहवत्ता न होनेसे उसमें कर्तृ-
त्व भी नहीं है। इस अनन्य और व्यतिरेक व्याप्तिके बलसे कर्तृत्वका निर्वाह करनेके लिये ही
जैसे निरवज्ञानका स्वीकार करते हैं वैसे ही आनन्दमय एवं नित्यदेहका भी स्वीकार करना
पडेगा। साथ ही प्रभुका जन्म भी शास्त्रोंमें सुनाजाता है। अतः प्रभुके देहका जन्म न माननेका
कोई कारण नहीं है, क्योंकि नित्य और सर्वत्र व्याप्त ऐसे अपरिच्छिन्नवस्तुका परिच्छिन्नरूपसे
प्रगट करना यही जन्म कहा जाता है। “आनन्दसे ही यह सत्र भूतमात्र उत्पन्न होते हैं”
“ब्रह्म नित्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दरूप है” “वह संप्रपञ्चे तुकड़ेके समान भीतर
बहार समग्र ही रमयन है, ऐसा विश्वय वह आत्मा भीतर और बहार समग्र ही प्रदानवन है”
“ब्रह्म का आकार आनन्द है” “वह आनन्दमय है, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयस्वरूपकी
बार बार उक्ति है” “श्रुति ब्रह्मको आनन्दमात्र कहती है” “आप केवल आनन्दानुभव
स्वरूप हैं” “भगवान् के धीहस्त, चरणारविन्द, श्रीमुख, आदि अवयव आनन्द मात्र है”
“गुण और लीलाके अनुसार आपके पुत्रके अनेक नाम तथा रूप हैं” “तीनों वेद, सत्र उप-
निषदे, साङ्ख्य, योग तथा इन्द्रादि भक्त परब्रह्म ‘भगवान्’ कहकर जिसके माहात्म्यका गान
कर रहे हैं, उसको श्री यशोदाजीने अपना आत्मज (पुत्र) माना है” “जिसका भीतर या
बहार, पूर्व या पर नहीं है; और जो स्वयं जगत्का पूर्व तथा पर एवं भीतर और बाहर है, वह
जगद्गुरु है” इत्यादि वेद, व्याससूत्र तथा पुराणोंमें अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसी तरह
प्रमाण प्रकरणीय वाल्मीकीअसि ज्ञात होता है, कि भगवान् श्रीकृष्ण अंशवत्तर नहीं पर
पूर्णवत्तर ही है। वैसे ही अस्मदादिक की तरह ‘आनन्द’ यह कुछ केवल आत्मा का गुण
होकर ही भगवान् में स्थित नहीं है, किन्तु प्रभुका श्रीअङ्ग, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण यह
सब आनन्दरूप है। साथ ही ज्ञानस्वरूप है। और “ब्रह्म त्रिकालावाशित तथा विज्ञान
स्वरूप है” “ब्रह्मके अखण्ड की समाप्ति होनेपर महाप्रलय उपस्थित होता है जब चौदह-
लोकके महाभूतों में लीन हो जानेपर, महाभूत अपने कारणभूत अहङ्कार में लीन हो जाता
है, और अहङ्कार अपने कारणभूत महत्तत्त्वमें लीन होता है, महत्तत्त्व अपने कारण भूत प्रकृ-

तिमें लीन होता है, अन्तमें प्रभु ही एकाकी शेष संज्ञा से स्थित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से आपका “नित्यत्व” “यह प्रभु ही सबको आनन्द प्राप्त कराता है,” इसधृति से “आनन्द जनकरता है” “इसतरह श्रीकृष्णचन्द्रने गोपालों के साथ आनन्द से आहावित होकर वृंदावनके समीप श्रीगोवर्धन एवं श्री यमुनाजी के तट पर पशुओंको चराते हुए रमण किया,” “हे राजन् ! श्री वृंदावन, श्रीगिरिराज और यमुनाजी के तटको देखकर श्रीकृष्ण और श्रीदाऊजी को अतीव आनन्द हुआ।” “हे गोपीनन ! पुष्पों की माला से विरचित कर्णभूषण से निसके श्रीमुख की शोभा अपूर्व हो रही है ऐसा श्रीकृष्ण आनन्द में आकर जगत्को आनन्द मग्न बनाते हुए बलदाऊके साथ पर्वतके शिखरोंपर ठाटे रहकर बन्सी बनाते हैं तब नाद श्रवण करने वाले सारे संसारको तदाकार बनादेते हैं।” “हे सखि ! यदुपति श्रीकृष्ण ब्रजकी गायोंके दुरन्त तापको दूर करते हुए, सार्यंकाल होनेके कारण प्रसन्न बदनसे गजरान की चाल चलते हुए, दिवसके अन्तमें जगत्के ताप कोशांत करनेवाले चन्द्रके समान अपने पास पधारते हैं” इत्यादि वाक्योंसे आनन्दवत्त्व भी उपपन्न होता है, तथापि आनन्दत्वका और देहत्वका विरोध तो वैसाही रहा, अपने अपने अधिकरण—आनन्द या देह—इस दोनोंमेंसे किसी भी एकमें प्रमाणोंसे अगर आनन्दत्व या देहत्व की—सिद्धि हो सकती हो तो विरोध कहाँ रहा ? तथापि आनन्दको धर्मी रूप मानकर उसका धर्मत्व किस प्रकार रह सकेगा ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण कि वह जैसे सैन्धवके तुफडके समान भीतर और बहार समग्र रसवन है वैसे ही अरे यह आत्मा समग्र प्रज्ञानवन है। जो सर्वज्ञ है,” इन धृतियोंमें भगवान्को ज्ञानरूप और ज्ञानके आवाररूप भी कहे हैं। वैसे ही आनन्द को ही धर्म और धर्मीस्वरूप मानने में किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यह सब विस्तार पूर्वक हमारे श्रीप्रभुचरणोंने विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादन किया है, अतः यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ८ ॥

विवेक और धैर्य की रक्षा करते रहने पर भी भगवान् भक्तके वशीभूत होते हैं, तो फिर दीनता पूर्वक आश्रय की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार शङ्का करके भगवान् सर्व मनोरथ पूरक हैं, अतः सर्वविध फलकेलिये कामना की पूर्तिरूप प्रभुके आश्रय की प्रार्थना है—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य चिश्रोपतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अन्वयः—विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य, चिश्रोपतः पापासक्तस्य, दीनस्य मम गतिः कृष्ण एव अस्तु ।

पहिले प्रभुके स्वरूपका विचारकर आश्रयका उपदेश किया, अब जीवके स्वरूपका विचार कर आश्रयका उपदेश करते हैं। “भगवान् अपनी इच्छा से सब कार्य करते हैं, अतः प्रार्थना न करनी चाहिये” ऐसा निश्चय होना “विवेक” है, सेवामें प्रतिबन्ध करनेवाले

दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय न करने आभिमौक्तिक, व्याख्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना “वैर्य है” है और फलरूपा एवं साधनरूपा भक्ति, ‘आदि’ शब्दसे पुण्य इन सबसे रहित, किन्तुइना इनके साधनोंसे भी रहित—अथवा यदि साधन होंगे तो भी अल्प प्रमाणमें, फल उत्पन्न कर सकें वैसे नहीं, और मैं दीन हूँ अर्थात् किसी प्रकारके साधनोंके सिद्ध करने में भी असमर्थ हूँ । साथ ही पाप में आसक्त हूँ—भूलसे नहीं, पर जानकर पाप करने वाला होनेके कारण फल मिलता हो वह भी न मिले—ऐसी परिस्थिति में जीवका रक्षक कौन हो सकता है ? श्रीकृष्ण ही है । क्योंकि अन्य मार्गोंमें यदि थोड़ा भी उलटा सीधा कर्म होजानेसे कर्मका फल नष्ट होजाता है और देवता भी नाराज होती है, तब साधकका अनिष्ट होता है, अथवा अल्पफल प्राप्त होता है, परन्तु यहां तो श्रीकृष्ण दयालु हैं, अतः मैंने समान अधनको भी सम्पूर्णफलदान करते हैं, अथवा विवेकादि सिखाकर योग्य बना कर फलदान करते हैं, अतः मुझे तो श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये ।

यहां “श्रीकृष्ण मेरा आश्रय हो” ऐसा कहनेवाले श्रीमदाचार्यचरण हैं और वे अपने को विवेकादिसे रहित आदि विशेषण लगाते हैं, वह अशुभ है, अतः उन विशेषणों की क्या संपत्ति है, यह विचारना चाहिये । मुनिये, इस ग्रन्थको आचार्यचरणोंने जीवोंकेलिये रचा है, अतः जैसे वेदमें भगवान् की ओरसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि हाथ जोड़कर मैं शरण आया हूँ इत्यादि उसी तरह आचार्य चरण भी यहां जीवोंकेलिये जीवोंकी ओरसे इस प्रकार कहते हैं । अतः उपर्युक्त विशेषणों की सद्गति जीवके प्रति ही होनी चाहिये ॥ ९ ॥

सबप्रकारसे निःसाधन जीवको शरण मानेके पश्चात् फलसिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि भगवान् तो जीवको उसकी कृतिके अनुसार फलप्रदान करते हैं । साथ ही यह भी सम्भव है कि जो लोग एकमात्र भगवान् ही का आश्रय करते हैं, उनसे प्रमादवश अन्यदेवोंका अपमान भी हो सकता है, और वैसा होनेसे अपमानित देवता फल सिद्धिमें बाधा भी उपस्थित कर सकते हैं । क्योंकि श्रेयके मार्गमें अनेक विघ्नोक्त होना प्राकृतिक नियम ही है । इस प्रकार शङ्का कर मोक्षके मार्गमें भगवान्के निजस्वरूपका लाभ होनेकेकारण निजस्वरूपका मोक्षरूपत आज्ञा करते हुए तथा जीवोंकी ओर से आध्यात्मिकी प्रार्थना करते हुए उपर्युक्त शङ्काका समाधान करता है—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्र एव अखिलार्थकृत, अहं शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयामि ।

सर्वसामर्थ्यशब्दका अर्थ सम्पूर्ण सामर्थ्य, सबका सामर्थ्य, सबके ऊपर जिसका सामर्थ्य है, इत्यादि है । अर्थात् भगवान् अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करते हैं । यदि मर्यादा की रक्षाकरनी हो तो आप स्वयं भगवान् होनेके कारण आपमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि धर्म तो सिद्ध ही हैं, अतः उसका दान कर, जीवको फलदाण्डन करते हैं । कमी कमी अक्षर ब्रह्ममें स्थित जीवको भी अपनेमें ले लेते हैं । क्योंकि सर्वत्र उनका ही सामर्थ्य है । “हे अर्जुन जो वस्तुएं विभूतिवाली होती है, शोभायुक्त होती है, बलिष्ठ होती है, वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा ज्ञान ।” “मैं समग्र जगत्का उपादान कारण हूँ । मैं ही सबका प्रवर्तक हूँ ।” इत्यादि वाक्यानुसार जिसमें समग्र सामर्थ्य विद्यमान है , ऐसे सुदर्शनादि आयुध भी आपके पास विद्यमान हैं । उनसे भी आप भक्तके अनिष्ट का निवारण करत है । “जिसने विष्णुकी उपासना की है ऐसे भक्तों की, कदापि निष्फल न होनेवाले सुदर्शनादि आयुधोंसे सकल आपत्तियोंमें से, रक्षा करते हैं ।” इस वाक्यसे भी ज्ञात होता है कि भक्तोंकी रक्षा भगवान् अपने आयुधोंसे करते हैं ।

सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् आश्रित की रक्षा न करें, अथवा मर्यादामार्गसे ही फलदान करें, ऐसी स्थितिमें आश्रयकी क्या आवश्यकता है ?

सब देशोंमें, जगहोंमें, आश्रमोंमें किंवा कर्मादिमार्गमें निखिल अर्थकी पूर्ति करना ऐसा आपका स्वभाव है । “एक बार भी शरण आकर ‘मैं आपका हूँ’ ऐसा कहनेवालेको अभयका दान करना यह मेरा व्रत है । फिर शरणमें आनेवाला चाहे जो हो ।” “जो भक्त स्त्री, धर, पुत्र, मित्र, प्राण, धन, इसलोक और परलोक की पर्वाह न करके मेरे शरणमें आये हैं, उनका त्याग किस प्रकार कर सकता हूँ ?” इत्यादि वाक्योंसे एक बार भी यदि शरणमें आनेवाले की आप रक्षा करते हैं, तो फिर शरणमें आकर भक्ति करनेवाले भक्तकी आप रक्षा करें इसमें कहना ही क्या है ? मर्यादामार्गसे फलदान करनेमें भी अन्यकी अपेक्षाके बिना ही—अनन्य होकर—भजन करनेवालेको भगवान् मर्यादाकी अपेक्षाके बिना ही फलदान करते हैं । जब कि ‘वेदमें कहा है इसलिये भजन करना चाहिये’ इसप्रकार वेद मर्यादाकी रक्षा करनेकेलिये भजन करनेवालेको प्रभु मर्यादाके अनुसार फलदान करते हैं । जो मुझे जिसप्रकार भजते हैं उनको मैं भी उसी प्रकार भजता हूँ । भगवद्गीताके इस वाक्यमें आपने अपनी मर्यादाका उपदेश किया है । अतएव किसी प्रकारकी क्षति नहीं है । “लोकमें मैं भक्तोंके अधीन हूँ ऐसा बतानेकेलिए बाललीलाओंके द्वारा ब्रजके आनन्दको बढाया ” “उसके पश्चात् श्रीकृष्णने बलभद्रके सहित समान वयस्के ब्रजवासियोंके साथ ब्रजचनिताओंको आनन्द देनेवाली क्रीडाएं की” “श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न हुए परमानन्दसे जिसके हृदयका ताप मिट गया है ऐसे गोपीजन मनोरथोंके अन्तको प्राप्त कर सके । अर्थात् उनको किसी प्रकारकी कामना न रही ।” सबको मोक्षका दान देनेवाले मुकुन्द भगवान् मुक्तिप्रदान करते हैं, पर भक्ति नहीं ।” इत्यादि

वाक्योंसे मृत्यु और यम भी भगवान्का आश्रय रखनेवालेके पास नहीं जा सकते तो अन्यकी क्या बात ? अर्थात् अनन्य आश्रय रखनेवालेके ऊपर सब प्रकारके सामर्थ्यसे युक्त भगवान् विराजमान होनेसे उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता है । तथापि इतना तो विवेक अवश्य अनुसन्धेय है कि सर्वस्वनिवेदनपूर्वक शरण गमन करनेवालेका उद्धार आप अनायास ही करते हैं ॥ १० ॥

“जीवमात्रके दशप्राण और ग्यारहवां आत्मा रहता है,” इस श्रुतिवाक्यसे निम्न तरह दश प्राणोंसे सब सिद्ध होता है, उसी तरह यह कृष्णाश्रय स्तोत्र ही भगवदीयोंका सब कार्य सिद्ध कर देता है। यह ज्ञान करानेके लिये श्रीमहाप्रभुजीने दशश्लोकोंसे कृष्णाश्रय स्तोत्रकी रचनाकी। जैसे जाल्मा क्षयरहित है वैसे ही इस स्तोत्रके पाठ करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है, यह बतानेकेलिए आत्मारूप ग्यारहवें श्लोकमें कृष्णाश्रयस्तोत्रके पाठका फल निरूपण करते हैं:—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—यः इदं कृष्णाश्रयं स्तोत्रं कृष्णसन्निधौ पठेत्, तस्य आश्रयः कृष्णः भवेत् इति श्रीवल्लभः अब्रवीत् ।

सब पदार्थोंमेंसे निष्ठाका त्याग करके जिससे कृष्णकी सेवा हो सके अपथा जिससे कृष्णका आश्रय सिद्ध हो, या जिससे कृष्ण आश्रय बने वह कृष्णाश्रय है । यही कृष्णाश्रय है । कारण कि कृष्णाश्रय शब्दका यथार्थ अर्थ इसीमें समाविष्ट है । अतः इस कृष्णाश्रयका पाठ श्रीकृष्णके समीप हीनेसे ही कृष्णका आश्रय सिद्ध होता है अन्यथा नहीं । पाठमात्रसे कृष्णका आश्रय कैसे सिद्ध होगा ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये । कारण कि यह बात कहने वाला श्रीवल्लभ है । यहाँ आचार्यजी अपना नाम निर्देश करके बताते हैं, कि मैं भगवत्स्वरूपका ज्ञाता हूँ, अतः मेरा वाक्य सत्य है इसमें अप्रामाण्यशङ्का न करनी चाहिये । आचार्यजीको सर्वोद्धारकेलिये भूतलपर अवतार लेना पडा है, जिसको सर्वोद्धारकेलिये अवतार लेनेकी भगवान्की आज्ञा है, वही भगवान्के यथार्थ स्वरूपको पहचान सकता है । अतः उनके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये । इसीसे भगवत्कृपा होकर सब सिद्ध होगा ॥ ११ ॥

श्रीमद्विष्णुनाथपादकमले संन्य भक्त्या मुदा

कृष्णैकाग्रपियोप तातकरणान् ताहक् पितृव्यानपि ।

श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिकरे कल्याण रायाभिधः

श्रीगोविन्दमुतः प्रकाशमक्तोद्भूथान्मुदे सद्वियाम् ।

इति श्रीविष्णुनाथ चरणैकतान श्रीकल्याणराय विरचित कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः सम्पूर्णः ।

થોડા વખતમાં છપાઈ બહાર પડનારાં પુસ્તકો.
 નિત્યલીલાસ્થ શ્રીમુઠાભાપુરીયવાદી સખ્યાનનગોસ્વામીશ્રીજીવનેશાચાર્ય સંપૂર્ણીત-
વૈષ્ણવદ્વિજ્ઞાનિક. (મોટું, ગુજરાતી.)

અર્થાત્ ઉપનયન સંસ્કાર પામેલા બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય અને વૈશ્યોનું
 નિત્ય કર્તવ્ય કર્મ.

દરેકને સહેલું પડે તે ખાતર આ આદિકર્મ સંખ્યાદિ નિત્ય કર્મ કરવાની સંપૂર્ણ સમજણ
 ગુજરાતી ભાષામાં આપવાની સાથે મન્ત્રો પણ ગુજરાતી દરકર્મ છાપવામાં આવ્યા છે.
 વૈષ્ણવદ્વિજ્ઞાને-બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્યોને-વૈષ્ણવી પદ્ધતિનુસાર સંખ્યાદિનિત્યકર્મનુંજ્ઞાન સમગ્રવ-
 નાકું માત્ર આ એક જ આદિક છે. 'ગુજરાતી-મુસ' પ્રેસની સફાઈદાર છપાઈ તો મુક મસફૂર
 છે એટલે તે ખાખત કયું વકતવ્ય હોય જ નહિ. પખવાડીયામાં છપાઈને બહાર પડશે.
વૈષ્ણવ-દ્વિજ્ઞાનિક. (હિન્દી.)

હિન્દી ભાષામાં સજનોંકી રાસ મુકિષાકે લિષ અપર વલગાયે ગયે આદિકર્મ હી યદ ઠીક-જ્યોંક
 ત્યોં હિન્દીમેં અનુવાદ હૈ. એક સમાદમેં છપ્કર તૈયાર હો જાયગા.

વૈષ્ણવ સંક્ષિપ્તાહિક.

આ આદિકર્મો દન્તધાવન વિધિ, તિલકવિધિ, મુદ્રાવિધિ, ભગવત્સેવા, જપવિધિ, નિત્ય
 પાઠ કરવાનો ક્રમ, અન્યાત્રય વગેરે અનેક ખાસ ખાખતો ઉપર સંક્ષેપમાં સારો પ્રકાશ પાડ-
 વામાં આવ્યો છે. 'વૈષ્ણવોએ કુંકર્મો કુંક કૈટલું નિત્યકર્મ કરવું આવસ્થક છે' તે સમજવા
 આ આદિક અવસ્થ ખરીદવું જોઈએ.

ઉપદેશમીમાંસા.

તમારે તમારા શુદ્ધ સનાતન પુષ્ટિમાર્ગ ઉપર 'મુખમસ્તીતિ વકવ્યમ્'ના ન્યાયે સફાઈ-
 કરનારા આજકાલના વિતણડવાદીઓને શાસોના પ્રમાણે સાથે મુખતોડ જવાખ આપવો છે ?
 તો 'મીમાંસા'ના સત્વર આઠક, બનો. તેમાં શું છે ? 'ગાયત્રી મન્ત્રનો ઉપદેશ લીધા પછી બીજો
 ઉપદેશ લેવાય કે નહિ ? 'અન્ય દેવના મન્ત્રો છોડીને શ્રીગુણના મન્ત્રોનો ઉપદેશ લેવામાં
 વિશેષતા શી ? 'મન્ત્રોપદેશ કોઈ પણ ઉત્તમ બ્રાહ્મણ પાસેથી ન લેતાં શુદ્ધાદૈત વૈષ્ણવ વેલ્લનાટીય
 બ્રાહ્મણ શ્રીવલ્લભકુલના આચાર્યો પાસેથી જ લેવાનું કારણ શું ? 'બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવાનું તાત્પર્ય
 શું ? 'દાષોની નિવૃત્તિ તો પ્રાયશ્ચિતાદિકથી પણ શક્ય છે તો પછી બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવામાં
 વિશેષતા શી ? 'બ્રહ્મસમ્બન્ધમન્ત્રોપદેશ લીધા પછી યત્ના દાષોની નિવૃત્તિ શી રીતે કરવી ?
 બીને તો પતિ જ ગુરુ છે તો પછી મન્ત્રોપદેશ લઈ બીજો ગુરુ કરવાની આવસ્થકતા શી ?
 'પતિ તથા બી એક ગુરુ પાસેથી મન્ત્રોપદેશ લઈ શકે કે કેમ ? નાનાં બાળકોને મન્ત્રોપદેશ
 આપવાથી શું ફળ ? 'ચોરાશી તથા અસ્તોળાવન વૈષ્ણવોની વાર્તામાં તમામને શ્રી ઠાકોરજી-
 સાનુભાવ હતા તે આજના સમયમાં કેમ નથી ? આવા અનેક જટિલ પ્રશ્નોના જવાબ સચોટ
 રીતે તથા યુક્તિપૂર્વક આ મન્ત્રમાં આપવામાં આવ્યા છે. દરેક વૈષ્ણવે આ પુસ્તક અવસ્થ
 વાચવું જોઈએ. પંદર દિવસમાં બહાર પડશે.

મળવાનું કેકાણું—

બુકસેલર, ગિરિધરલાલ, જ. રાહ,

C/o શ્રી જીવનેશાચાર્યપુષ્ટિસિદ્ધાન્ત પુસ્તક ભંડાર, લાલબાગામંદિર, મુંબઈ નં. ૨.

નેટ-કપલા એડ્રેસને તમારી મુકમાં નોંધી લો; કારણ કે વૈષ્ણવ સંપ્રકાશનાં તમામ ભંડાર પુસ્તકો
 તથા ચિત્રોને અચૂક રીતે તથા ઠાકોરજી સંપ્રકાશ કરનાર આ એક જ કેકાણું છે.

किञ्चित्प्रास्ताविकम् ।

कृष्णाष्टम्यां कृष्णाश्रयस्तोत्रं पङ्क्तिवरणसमेतं प्रकाशयितुं तत्पणोदनिःसीमानु-
ग्रहेण पारयामीति महत्सौभाग्यं मे । अतीयाय किल सार्धोद्बो मुद्रणपत्रपारोपि-
तस्यास्य, किन्तु गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजैः साकं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र-काशी-
क्षेत्र-चरणछोडलप्रभृतिव्यनेकस्थलेषु यात्रानिमित्तं गतं मयेति, तेषां कुमारश्रीवल्लभलाल-
जीमहोदयानां वाराणसीयप्रयवापरीक्षादित्सापि तदन्तर एव जातेति तत्राप्युक्तं, भूयोपि
वाराणसीं गतिं प्रस्यते तैः सह परीक्षादापनार्थम्, अन्यैश्चाप्येवंविधैर्हेतुभिरैकत्र स्थिति-
मलभमानेन प्रकटयितुमेतत्स्तोत्रपतिक्रान्तावेला मया । ततश्च बहुमिचारिवारं पर्यन्वयोजिपि
दितैपिभिः किमेतत् कुत एतत् कथमेतदित्यादि । किं पुनः प्रतिपद्यतां प्रतिवचनं, यत्रैकस्या
व्यक्तेरधीनं कार्यवाहुरूपमप च स्थितेरनैपत्यं तत्र भवत्वैवंविधो विलम्बः । अस्तु ।

ग्रन्थोप्यं श्रीमदाचार्यवरणप्रणीतपोडशमकरणग्रन्थेषु नवर्मा सहस्रचामावहति ।
विषयश्चास्य नात्रैव सद्यो यत् कृष्णाश्रयणमन्तरा स्वभावदुष्टमीवानां निस्तारो नास्त्येव
कलौ । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' 'सर्वथपर्यन्तरित्यत्र' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'सुसुखुर्वै शर-
णमर्हं प्रपद्ये' इत्यादिवाक्यपरसहस्रैरिदमेव हठीक्रियते । 'कलिदावानलेनाय साधनं
भस्मतां गत'मित्याद्युक्तिभिः प्रमाणबलं प्रमेयबलमन्तराऽकिञ्चित्करमेवेत्यपि निर्दिवाद्यम्,
अत एव 'कृष्णाश्रयैर्न्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति दैवोद्धारार्थं पृथीतावतारै-
र्निबन्ध आहसम् । यद्यपि भक्त्यादिमार्गा जनोद्धारार्थं निबन्धादौ सपरिकरं निरु-
पितास्त्वथापि प्रत्यहं कलेराधिव्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य आश्रयस्यैव च सर्वदि-
तावहत्वं पर्यालोच्य स्तोत्रमिदं व्यरीरचनाचार्याः । आश्रयमवने तु महदनुग्रहस्यैव हेतुता
नान्यस्य । अतथैव दृशा प्रणीतोप्यं ग्रन्थ इति प्रबन्धस्यास्याबलोक्तेनायाज्ञातं
भविष्यति श्रीमदाचार्यपादाम्भोरुहमकरन्दलिङ्गे दैवसर्गस्येत्यलं पञ्चवितेन ।

ग्रन्थस्यास्य परिष्करणे पुस्तकप्रदानेन मणसनीयमुपकारमाचरितवतां मे दीक्षा-
गुरुणां गोस्वामिश्रीमदनिकरुद्रलालजीमहाराजानां काम्यवनस्यगोस्वामिश्रीवल्लभलाल-
जीमहाराजानां सुपृथीतं नामवेद्यं प्रत्यहं स्मरामि । तृतीयपीठाधीश्वरश्रीब्रजभूषणजी-
नामध्यापकाः पं. कण्ठगणेशर्माणः, पुरुषोत्तमलालजिमन्दिरस्थदामोदरशास्त्रिणः,
सद्गतभगवद्दीयाः 'मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीचाल' एतेषामपि सर्वेषां पुस्तकप्रदानतो
पदुपरि महत्पुण्यं । गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजा अपि सांपदाधिक-

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

मेरे चार शब्द

पुष्टिमार्गीय हिन्दी भाषामापी वैष्णवों की सङ्ख्या गुर्जरभाषामाषियों की अपेक्षा कम नहीं है, तथापि हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको अभाव पूर्ववत् विद्यमान ही है। इस महती त्रुटिको दूर करनेके अभिप्राय से "वैष्णव वैभव" मासिक पत्रका आविर्भाव हुआ। दुर्भाग्यसे वह आज तिरोहित दशाका अनुभव कर रहा है। इसके अनन्तर साम्प्रदायिक मौखिक ग्रन्थोंका अनुवाद करना प्रारम्भ किया, आज इन पङ्क्तियोंका लेखक हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका अनुवाद कर रहा है, इस समय १०० फार्मसे अधिक होतके इतना साहित्य मौजूद है। षोडशग्रन्थों में "विवेक भैरवाश्रय" का अनुवाद गो० धीमन्मल लालनी महाराज की सहायता से छप चुका है। "बालोप!" का अनुवाद भी आपही छपायेंगे ऐसी आशा है। यह "कृष्णाश्रय स्तोत्र" का अनुवाद गो० धीरणछोहलालनी महाराजकी कृपासे छपा है। ब्रह्मवाद सङ्ग्रह चौखन्नासिरिज के अप्यक्ष सेठ जयकृष्णदासजीने छपाया है। यदि हिन्दी भाषामापी वैष्णव जनता इन ग्रन्थोंका उचित आदर करेगी तो शुद्धद्वैत मार्तण्ड, प्रमेयरत्नार्णव, प्रस्थानरत्नाकर, निघन्ठ और काशीस्य गो० श्रीगिरिधरजी महाराजकृत विवरणके अनुसार अणुभाष्यका अनुवाद आदि ग्रन्थ शीघ्रही छपसकेंगे।

यह कृष्णाश्रय ग्रन्थ धीमहाप्रभुजीके समयकी देशकालकी परिस्थितिका भलीप्रकार परिचय कराता है, जिस समय देश म्लेच्छाक्रान्त हो चुकाथा, उस समय पुष्टिमार्गीका प्रचार हुआ है। ऐसे भयङ्कर समयमें धर्मका प्रचार करना कितना कठिनथा यह विचारशील पाठकों से छिपी हुई बात नहीं है। आज पुष्टिमार्गीज जो लोग आक्षेप करते हैं, उनको इस परम पुनीत सम्प्रदाय का साहित्य देखना चाहिये। भाविक वैष्णवोंसे प्रार्थना है कि आप यदि अपने बालकों को अन्य धर्मोंसे पराभूत देखना नहीं चाहते हैं, तो आप साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका सब हिन्दी भाषामें अनुवाद कराके छपाइये, और हिन्दी में छपने वाले ग्रन्थों को सहायता प्रदान कीजिये।

३ रा भोईवाडा, भुलेभर,
बम्बई, रणयात्रा १९८५

भवदीय
हरिशङ्कर शास्त्री
वेदान्त विशारद

शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

नित्यलीलास्थ गोस्वामीजीवनेशाचार्यजी महाराज (पोरबन्दर) सङ्ग्रहीत

वैष्णव दिजाह्निक

अर्थात् उपनोत ग्राहण, क्षत्रिय और वैश्योंका नित्यकर्म

इस आह्निकमें सन्ध्यादि नित्यकर्म करनेका पूरा परिचय कराया गया है। साथ ही वर्णविभागके अनुसार पद्धति भी समजानेवाला यह एक मात्र ग्रन्थ वैष्णवोंके लिये उपयोगी है।

उपदेश मीमांसा

यदि आप शुद्धपुष्टि मार्गीय शरण मन्त्र और ब्रह्मसन्ध्वका रहस्य जानना चाहते हैं, विषर्मा वितण्डवादियोंका मुखमर्दन करना चाहते हैं। गायत्री मन्त्रका उपदेश होनेके पश्चात् अन्य मन्त्रों का उपदेश हो सकता है या नहीं? अन्य देवोंकी उपासना छोड़कर श्रीकृष्ण ही की उपासना क्यों करनी चाहिये इत्यादि प्रश्नोंका सरल हिन्दी भाषामें उत्तर जानना चाहते हैं तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये।

श्रीमद्गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्

सम्प्रति विरानमान गोस्वामिवालकोंमें सर्वप्रथमग्रन्थकार विद्वद्ब्रज गोस्वामी श्रीमदनिरुद्धाचार्यजी महाराजने इस ग्रन्थपर ब्रह्मामृत भाष्य और पोषूपलहरी टीकाकी रचना की है। इसका हिन्दीअनुवाद भी किया गया है। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण ही परात्पर पुरुषोत्तम हैं, शिवब्रह्मादि देवता भी उनकी उपासना करते हैं, कर्मज्ञानकी अपेक्षा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ उल्लेखित है।

सब प्रकारकी पुस्तकें मिलनेका एकमात्र ठिकाना.

बुकसेलर गिरधरलाल, ज. शाह.

श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टिसिद्धान्त पुस्तक भण्डार,

श्रीलालबाबाका मन्दिर, बुलेश्वर, बम्बई पो. नं. २.

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकुर्वन्तीति मत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणानेके साम्प्रदायिकाः प्रवन्धा बहिरवतेरुः । षोडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नवमं कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रवन्धबलेन - लब्धावतारं श्रीमदाचार्यवाक्सुधापिपासूनां मनोरथपूरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृक्सत्प्रवृत्तौ योग्यविधित्सया परमकरुणया दशवर्षाणि मे सर्वविधसाहाय्यं दत्तवद्भ्यो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-देशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्त्तव्यमावेदयामि ।

अस्मिन् संशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोजकप्रमादतो वा जातानि स्वलितानि संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्बोधयित्वानुगृह्यन्तु दयालवो विद्वांसो मामिति प्रार्थयति—

कृष्णाष्टमी
संवत् १९८३

}

विद्वज्जनरूपामिलापि—
हरिकृष्णः शास्त्री,
'शुद्धाद्वैतविशारदः' ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदान्कार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविचरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्वोरंस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।

निजदास्यं स नो देवादव्यादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विविति । सर्वं कर्मज्ञानोपासनादयस्ते शुभन्ते तत्तत्कलार्पिभिरिति मार्गा इष्टमाद्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सन्तु । अनेन जीवानां सर्ववैवा-
गतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेषुऽप्यश्रयैरे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव
गतिः क्षरणं, प्राप्त्यर्थे औश्रयणं च । अत्रास्तिवतिपदं व्याख्यानैऽव्याहार्यम् ।
पृथकारेणान्पनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणापगतिकत्वं कलौ चेत्यने-
नाहुः कलाविति । बहिर्धर्मैरुपाभासोन्नदोपयस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो
यस्मिन्कलौ । खलानां दामिकहेतुकपापण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, कचि'खल-
धर्मिणी'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः-
खलव्याप्तौ धर्मश्चेति कर्मधारये कृते पश्चान्मत्तवर्थाप 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'-
प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानायतिरोधानेषु कल्पतिरिक्तकालेष्वपि । किञ्च,
पापण्डो वेदवाङ्मो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतापार्-
सत्यां, सर्वकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि कलिताप्यो ज्ञेयः ।
अत एव 'बृहन्नारदीये'प्युक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव
नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वथापि कचिन्नमिच्छसप्तमी, कचि 'दहाणां
कर्तृत्वं' इत्यनेन सप्तमी तेषु ॥ १ ॥

धर्मोत्पत्तौ पाप्माभ्यन्तरपेदेन पापगुणत्वयन्तो निष्पत्तूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्माद्यर्थिभिर्वासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छाज्ञेया जाता कर्मणा च । नन्वेवं विधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहुः— पापैकेति । कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । चकारादनेवं विधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिरुक्ता । तर्ह्यभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतो- नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडा नोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यंग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ २ ॥

- ननु गङ्गादिपूर्वाक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तु- सामर्थ्यतिरोधानान्न तथात्वमिति समाहितपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यैस्ति, तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'मितिनचनाद्भगवद्भूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तत्र भगवदिच्छयेदानीं बहुधा- तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवविधेषु 'गङ्गादितीर्थवयंषु' तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूर्जार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहङ्कारेण विशेपतो मूढेषु आत्मोद्धारोपापज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वितिपदं पूर्व- स्पादध्याहार्यम् । किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दृष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्त- यनंयनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निपिदाचरणपरंषु । किञ्चिदिष्टेषु तेषु लाभपूजति । लाभो द्रव्यादेः पूजा

स्योन्नतिपूर्वकं लोऽकृतसन्माननं, अर्थः स्वययोननं, एतद्वितपसिद्धयर्थमेव यत्न उद्यमो
येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । हेतुजननगुर्वाद्युपसत्त्वभावेन वियोगश्रमात्पाठार्थविनियोगादी-
नापपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु विराहितेषु सत्सु, पुनः किंचिन्निष्टेषु अव्रतयोगिषु
अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैवविद्येत्तिरोहितानामप्यकिञ्चित्करत्न-
मेव । यद्वा, स्वस्नाश्रयस्या योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु । पुनः किंचिन्निष्टेषु
तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्व्यं
येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः किवानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कृताकिंरुचौद्धत्यागयोक्ता ये वादा वज्रालरुहाः 'यावज्जीवे-
त्सुखं जीवेदि'रथेवंरुहाः, तैः कृत्वा वैदिकगमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो
नष्टेषु नास्तियथेन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पापण्डेषु पेदादिकिच्छायेष्वेव एकः
असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति,
पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । शूद्रीभर्तृर्धर्मद्वन्द्वोरजाखिलनाम्नो दोषाणां महा-
पातकानां नामपात्रेण नाशकोऽस्माकपनुभवे स्थितः, साम्ब्रानुभवे अन्तःसाक्षिप्रत्यक्षे वा
स्थितो विपरीकृत इति यावत् । 'आदि'पदाङ्गजेन्द्रमभुवपः, यमलोकस्थिता' नारकि-
णश्च । इदं वृत्तिहपुराणादौ मसिद्धम् । ज्ञापितं दैवमीयेष्वखिलं सपत्नं निजमाहात्म्यं
येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निबन्ध-
नोत्पत्तिस्थितिविलया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव ।
अत एवोक्तं दशमे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति
चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया अतगुणितानन्दत्वेनापरिमिता-
नन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयात्वरत्वाद्धरः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वा-
दखण्डितानन्दत्वात्सर्वरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविध-
दुःखसहनं धैर्यपदार्यः । भक्तिपदेन कृपायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्यु-
च्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवाव-
गन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्दर्परहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेत-
द्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्ज-
नेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या दीनस्य । भगवताप्ये तादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ
व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्नभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमर्तुभ्यन्ययाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम
मनुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत्
यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य
सम्पगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योर्थो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्त-समीपेषु पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानमिहस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतान्मन्त्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इतिश्रीवल्लभोऽब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तज्ञानतः किमाश्चर्यम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्भवतः मेरितो भग-वांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमप्यपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

मुखेन श्रीयतां कृष्णः किमावेधिन्यपा मुधा ।

आचार्यवाचस्तुथासिक्ता माहृद्दं संशयं जनाः ॥ २ ॥

आचार्यचरणाम्भोजे हवं विश्वस्य विस्तरात् ।

रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनवरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतो

कृष्णाश्रयस्तोत्रविचरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीयोगीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यद्गीलालवसस्पर्शान्नि रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।

ते राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भक्त्याहं तान्निजाचार्यान्भिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना देशादिपैदसाधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्राणानामिशास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्म तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वरूपाश्रयं प्रार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वति सति । 'खलधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः । 'कृपिर्भूवाचके'तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोस्त्विति शेषः । खलधर्ममाहुः—लोके जने पापण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिंस्तादृशे सति । अत एव सर्वे मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टमायेषु सन्तु, पापण्डप्रवेशादात्मसुखवाचकस्वर्गपदस्य लोकात्प्रमज्जननाच्चित्तशुद्धयजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वाद्गुणसनामार्गस्य च मुख्यफलसाधकत्वेन नष्टमायत्वम् । अकारान्महादेवादिषु फलिकालानुगुणेषु सन्तु, एवका-

रस्य विशेषान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा मतिर्पास्वित्त्वर्षः । अन्या-
र्थकत्वादस्य सिद्धत्वेपि प्रार्थनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य
वाधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिप्रत्वाद्धौकिकक्रियापरत्वात्पातंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं
मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, यैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्त-
दुपणानामभावात् । तथाहि—‘फलेदोषनिघे’रिति ‘कलौ तद्धरिर्कीर्तनादि’ति ‘कलि सभा-
नयन्ती’त्यादिवाक्यैर्वाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत् साधकत्वात् । ‘शृण्वन्
शृण्वन्’ ‘मद्गार्तायातयापानां न वन्वाय गृहा यताः’ ‘दावश्रगादयः स्तेना’ इत्यादिवाक्यै-
र्भगवत्परस्ते गृहादेर्वन्धहेतुत्वाभावात् । ‘एवं नृणां क्रियायोगा’ इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रि-
याया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । ‘परकर्म कुर्वता’मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकर-
णेपि प्रत्यवायाभावात्, ‘धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः’ ‘वे मे न दृश्यमईन्ती’त्यादिवाक्यैः
कदाचित्पातकसंभवेपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । ‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’
‘अपि चेत्सुदुराचारः’ ‘यः कश्चिदृष्णवो लोके, ‘यानास्पाये’त्यादिवाक्यैराराधाराध-
भावैपि फलसिद्धेः । ‘धर्मः सत्यदयोपेतः’ ‘धर्मः स्वसुष्ठितः’ ‘नैष्कर्म्यमप्यस्युह-
भाववर्जितं’ ‘यमादिभिर्योग्यैः’ ‘श्रेयःश्रुति’मित्यादिवाक्यैर्वैष्या जलौकसां नित्यं
जीवनं सलिलं मतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत’ इतिबृहन्नारदीप-
वाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामैव साधकत्वात् ।
‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा’ ‘यत्तुर्विधाः’ ‘अक्रामः’ ‘ज्ञाने यथासमुदपास्य’ ‘किमलभ्यं’
‘रूपमारोग्यमर्षा’नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । ‘परिनिष्ठितोपि नेर्गुण्ये’
‘आत्मारामाश्च’ ‘नैकात्मतां’ ‘महतां पधुद्रि’दित्यादिवाक्यैः स्वतोपि फलरूपत्वात् । अधुना
कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफ-
लत्वाद्वाधिकाधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं ‘त्वार्थेदीपे’—‘अधुना ह्यधि-
कारास्तु सर्वे एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेष्यतेः भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही’ति भक्ति-
साध्यफलस्याग्नोनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुपस्थितत्वाच्च कर्मादितुल्यत्वान्येपि ।
ननु पूर्णभक्तिमार्गस्वाधिवयेपीह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न ‘स्मर्तव्यः’ ‘स्मृतेः’
‘कृष्ण कृष्णे’ति ‘न वै जनो जातु’ ‘कृष्णेति’ ‘यालोको’त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि
फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावादल्पमुक्तिभिः ॥ १ ॥

१ एवकारो हि विप्रलम्बः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽप्युक्तयोगव्यवच्छेदकमेति,
विशेषान्वितः प्रथमो यथा धर्म एव पदुर्षः, विशेषान्वितो द्वितीयो यथा सद्गुरुः वाणुदेव, क्रियात्विक्त-
रतुतीयो यथा नीलं ततोर्ल मयत्वेति । २. कश्चिवास्ति ।

भट्टश्रीगोविन्दराजवृत्तटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुश्रेष्ठं सुमक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशमनोहरेणं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥

नत्वा श्रीबल्लभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयमकाशस्य व्याख्यानं मुनिरूप्यते ॥

संस्पृशादिति । सम्पृक्तु सम्बन्धादित्यर्थः । सम्ग्रन्थे सम्पृक्तत्वं चात्रान्यापरि-
भूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति
भाष्यमिति वाच्यम्, 'अपृष्टवर्तीयास्थस्ये'ति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायक-
मिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः
काचित्, इतरथाऽन्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'दी-
कायाम् 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दा-
दद्येव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरान-
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्यो-
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमार्थवर्णीयकृष्णोपनिषदि "पूर्णप्रेमा-
स्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा", तस्मान्न भिन्नेति । यत्कृपादृष्टित इति । स्वीय-
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यान्भिवन्द इति
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्धयर्थं निजाचार्यनमस्कार-
रूपं मुञ्जुं करोमीत्येतद्वाक्यार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा
प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तत्त्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवात्' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा
प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमिति न्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य
सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयंस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः
प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शाब्दसाधनता-
न्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये बल्लभविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादन्वयेन जिगमिपति असिना
जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेश्वादिख्यसाधनस्य 'तदन्प्रेष्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्त-
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तथार्थभूतविधेश्च 'सन्प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमना-
दाबन्धस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यार्थां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु
'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं नतु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थ-
कत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयवासिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

द्विष्णुम् ।

सर्गः । पुरुषाद्भ्रमादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्त्वान्यादया पालनं स्थानम् । स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार कृतिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुभक्तिरीत्यानुकया । भक्तानां प्रवञ्चाभावो निरोधः । निष्प्रवञ्चानां स्वरूप-
लाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । साच्चिकसाच्चिकाः, साच्चिकराजसाः, साच्चिकतामसाः । राजसरानसा, राजस-
साच्चिका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसरानसाः, तामससाच्चिकाः । एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । 'किपासनं ते मरुदासनाये'त्यनेन प्रार्थनान्याजेनैव स्तुतिविष्णुणस्त्वैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते माप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावं' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि मत्पय इति चेत्, सत्पम्, 'कृत्यस्तुयो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्नाश्रयार्थेष्वभिचारार्थं पादाभ्यां द्विवते पादहारकः कर्मणि षुल्' इति वैपाकरणशिरोमणयः । पापपञ्च इति । वेदविकृद्धत्वं पापपञ्चसम् । आत्मसुख-
धाचकेति । 'यत्र दुःखेन संभिन्नं न च प्रस्तमन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्वद्'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकाभ्रमजमनादिति । लोकेत्येन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायो-
पहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अताच्चिकोऽग्न्यथाभासः । यद्वा, यस्तु-
नस्तदसप्तसत्ताको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽग्न्यथाभासो विवर्तः । कारणभेदं विवर्तं तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाद्गीकाराद्योगस्येति । निर्वाणयोगाद्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चिच्चञ्चिनिरोधः स तु भगवद्दयानार्थमङ्गल-
नोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेऽप्यवबोधोपाद्भूतो द्वितीयः । उभावपि मामाधिकौ । यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाध्यकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादि-
साधकास्तेऽपामाशिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम् । कलिकालानुगुणेष्विति । द्वाप-
रादौ युगे भूत्वा कलयामानुषादिषु । स्वार्थैः कविभैरवैश्च न जनान्मद्विभुग्वान् कुरु' 'मां च गोपय वेन स्यात्प्रिरेपोचरोचरे'त्यादिभ्रमपुराणाद्युक्तवचनैर्माहादेवादीनां कलि-
कालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र मयागभूताः 'शुभिके शिर-
आरोह शोभयन्ती मुखं मम । मयाग्रे कर्णौ विश्वेव्यस्त्वित्पादय आगमा अनुसन्वेया इति भावः । 'कलेर्दोषनिवे'रित्यारभ्या'भक्तोपि फल्यु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्घट्टः--'कले-
दोषनिधे राजजस्ति दोको महान् युगः । कीर्तनादेव कृष्णस्य सुकथमत्रः परं ब्रजेत्' 'कृते यद्दयायतो विष्णुं त्रेतायां चमतो मयैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्दरिकीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम् ।

सभाजयन्तपार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वैः स्वार्थोपि लभ्यते'
 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्व-
 चरणारविन्दयोराविष्टचिचो न भवाय कल्पते' 'गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
 मद्गतायातयामानां न वन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावरकारागृहं गृहम् ।
 तावन्मोहोद्धिनिगदो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
 त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।
 तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य
 हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य
 सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीपां
 स्वात्पातकं तदपि हन्युर्ह्यापवादाः' 'ते देव सिद्धपरिणीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो
 भगवत्पत्न्याः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्निपां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' 'सर्व-
 धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच'
 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्पभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्पद्यन्वहितो हि सः'
 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरि-
 वोदितः' 'यानास्याय नरो राजन्न प्रमाथेत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्न
 पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतगात्मानं न सम्यक्
 प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम
 एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः
 पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपर्यैः कामलोभहतो
 मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्दत्तयात्पाद्धा न शाम्यति' 'श्रेयःस्रुति भक्तिमुदस्य ते विभो
 क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ केशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुपाव-
 घातिनाम्' 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतथ यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरि-
 तरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसा' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः
 मुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अकामः सर्वकामो वा
 मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने मयासमुदपास्य
 नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाञ्छ-
 नोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिके-
 तने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवा-
 नुपङ्गिकान् । ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लो-
 क-

द्विष्णुम् ।

लीलाया । गृहीतचेता राशेर्षे आरुपानं यदधीतवान् 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्गन्त्या
अप्पुरक्रमे । कुर्वन्त्यैतुर्कां भक्तिमित्यंभूतगुणो हरिः' 'मैकात्मतां मे स्पृहयन्ति
केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः मस्य सभाजयन्ते मम पौरु-
पाणि' 'मदतां मधुद्विदसेवानुरक्तपनसाम्भवेषि फलु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति
भगवत्स्वरूपराशेरित्यर्थः । तदुक्तमस्पत्यशुभिर्भक्तिर्हसै' 'भक्तौ च न स्वस्थातिरिक्त-
फलत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तद्भावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं
विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचिद् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः
सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तपजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण
कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यतः । जलं भिन्ना यथा पत्रं नरकादुद्धराम्बहम्'
'कृष्णेति मङ्गलं नाम यदप वाचि प्रवर्तते । भस्मीभञ्जन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः'
'न वै जमो जातु कथंचनात्रनेत्रुकुन्दसेष्पन्वषदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्गुणुपगूहनं
पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसमदो यवः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं
मुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिनिदानं, ततः प्रेम, तेन च
विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलपिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्व-
निर्णये 'स ज्ञानक्रियोभयप्युतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमेव तत्साधनं नवविधा
भक्ति'रिति श्रीमद्गार्ग्यवर्षाः । तथाच सामिकृतस्यापि स्मरणवर्पन्ते विहितस्यापि
कायवाचिनिषेधयोगस्नेहाभावेषु मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाध्यकत्व-
मिति स्पष्ट एतेरेभ्य उक्तव्यः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाचिनिषेधयोगाभावेपि स्नेहा-
भावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । कर्मपर्यायस्य तु न तथा, साक्षाद्दैदिककर्मणः फला-
वश्यंभावनिपपादिति तच्चम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरूपवच्छेदपूर्वकमाश्रयवा-
र्धनमित्याद्यद्वय देशानामसाध्यकत्वं वदन् आश्रयं माथेयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तैष्विति । देशेषु ह्यनिराक्रान्तेषु सल्लु । ननु म्लेच्छा अपि न्याय-
वर्तिनश्चेत्ता को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापस्या एव ते तदेकनिलयेषु,
पापा ये मुल्यास्तत्रिलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अङ्गबह्वा-
दिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः । ननु लोका वणिजादयः समीचीनाश्रित्वापैः

१. अङ्गबह्वदिषु च । सौख्यस्येव च । तीर्थवाचां जिना यच्छत्रं पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः

प्रकाशः ।

अपरिज्ञाननष्टेऽपि । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टभाष्येषु सत्सु । वैदिकानां गुरुकुलवासत्रय-चर्यशुद्धासन्निध्यनध्यापराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनाग्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्येत्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतार्थनिर्धारार्थमभिरेव फलसिद्धेः किपाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेऽपि । कर्माणि सोमपागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति घेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन घेदानां तद्गो-धितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यपान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं नास्तीति केपाश्रिद्धादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्रः' इत्यादिवाक्यैर्व्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोत्त-रोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनेव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रप्रत्ययेति न देवताप्रतिष्ठापारः फलं वेति केपाश्रिद्धादः, शास्त्रेण पोदशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्य-न्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केपाश्रिद्धादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केपाश्रिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादवैविशेषेण नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वादिनाशः । वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष उ एव तं साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत उपपत्तेः' 'त एवं तस्मास्तर्पयन्त्येनपि'ति 'देवा वै सत्रभासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्पसि' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं' मित्यादिध्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्स्वरूपत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्तृप्तिसत्रकरणा-द्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्साधुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्वैकाद-ट्टिष्णम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु, 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती मतिगृह्य भुक्त्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या' स्यात्, ततश्च नित्य-

टिप्यणम् ।

वेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-
 शक्योऽभ्युपगन्तुम्, न चाभ्युपगाना मसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्वात्
 देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्तमिति
 पार्थसारथिमिश्राः तत्रोद्विवादमात्रमेव । तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्तच्च
 नित्यपेदविषयत्वं न स्यादिति, तदपेक्षलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषय-
 त्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'तुल्य एवैतन्मिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयतीत्यादि-
 श्रुत्युक्तत्वाच्च । मुख्यार्थावायेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं
 न तु विधेयकभावतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छापरभाष्ये सिद्धान्तितं तस्त्वमत-
 ग्रहमात्रमेव । प्रकृतमनुसारायः । यदपि 'सत्तमपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः
 प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुमिति, तदप्यविचाररमणीयम् । विन्वादीनामपि प्रत्यक्ष-
 भोगाभावात्त्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'तिथुतौ 'परं पुष्यं फलं तोयं यो मे
 भक्त्या प्रयच्छति । तदहं प्रकृत्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निषेदिता-
 न्नैव यद्यप्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तदेयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृद्योषं तु यो
 दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति स्कान्दे 'य-
 श्राद्धकाले हरिभुक्तयोषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिन्दास्तुलसीविमिश्रा-
 नाकल्पकोटिं पितरस्तु वृषाः' इति श्राद्धे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु
 निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधाभिर्मूलमिति, तत्र, श्रीधरस्वामिर्नृसिंहपरिचर्या-
 दिमूलं षडक्षं स्वस्यैव षडद्वयापायात् । एतेन 'न चाभ्युपगाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवती-
 त्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेवेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुप-
 पत्तिः । एतेन तदुक्तकर्मभार्यस्य प्रलपितकर्मत्वं सिद्धमिति निर्गर्भः । यत्तु मुक्तावस्था-
 मात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साध्यमुपैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चानन-
 भट्टाचार्या आहुस्तत्त्वामादिक्रमेव । तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽप्यया वन्यमोक्षा-
 लुपपत्तेरिति, तत्तुच्छं, वन्यस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि
 'योषीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं षडन्ति तदपि तथा । तथाहि अमेद-
 वोधिक्या किल 'महा वेदं वस्यैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीयत्वमविषादन-
 द्वारा स्तुतिस्वस्याः शक्योर्थोपि त्वौषचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति
 मुख्यार्थाभावात् । अत ए'वांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेश-
 कालामेदेन निमित्तोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च यत्परास्तदौषचारिकं युक्तमित्युक्तं वाचस्प-
 तिमिश्रैः । न च 'सर्वं एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव धन-

प्रकारः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीढया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वाच्च कार्यमुत माकृतं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सदर्भस्य शुभहेतुत्वानिधयेन श्रद्धाद्यभावात्तेषु सदाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा दि न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वका-
लैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गम-
नमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां
विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकारः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वेषुरुपार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणाम-
साधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंपु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः
पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरि-
चयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतियहाद्युपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु
सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्य-
ङ्मृत्लाशतेनाप्यय भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्धयतीत्येव वयं
वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डकास्तोये मग्ना दिवानिशं । वसन्तोपि
च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचि-
टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्म-
काध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभिर्'त्रिबन्धे' 'द्वितीयस्य
प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमिति । यादवकोशेषि—'तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन'
इति । 'उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं: 'कालिन्दीति समाख्याते'त्यस्य
व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमिति । 'प्रायश्चित्तानि 'चीर्णानी'तिवचनत्रयाणि—

प्रकाशः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमथदया च यत् । तद्वर-
न्त्यसुरास्तस्य समुद्रस्वाकृतारत्नम्' इति योगियाज्ञवल्करवचोभिः, 'अश्रद्धवानः पापात्पा
नास्ति कोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पश्यते न तीर्थफलभागिनः' इति वायुपुराणवचनाच्च,
'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्वाहिर्मुख्यनास्तिनयादिदोषानिवार-
कत्वात् । ननु वस्तुतत्त्वां सत्त्वां कथमेतत्, न ह्यभिः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधि-
दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्गन्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-
न्त्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येन प्राकृत्यात्, अन एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्था-
दावपी'ति । अत्र एव सतां 'तीर्थाकुर्वन्ति तीर्णानी'त्यनेन तीर्थाकरणमुच्यते । आधिदै-
विकामाये अले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थाकरणं स्यात् । शेषं प्राग्भूत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराङ्गम्भविवा-
पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कल्पयिष्यते । कृष्णमसादयुक्तस्य मानस्येति
विनिश्चयः' 'भवद्विषा पागवतास्वीधीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थाकुर्वन्ति तीर्णानि स्वान्ता-
स्येन गदाभूते'ति ॥ ३ ॥

प्रकाशः ।

ननु कैर्दसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किवाश्रयेऽन्यव्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृशाम-
साधकत्वं वदन्त आश्रयं पार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु षण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञ इतिवर्षेणान्ये
पृच्छन्त्वपि नेति मागतादायभिनियेवादिशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टे-
त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म
लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वातुवर्तन्तेऽतः सद्ज्ञानदोषाभ्यां दुष्टत्वात् तेषां
स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः,
भगवन् भगवद्दीपो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदार्थयत्नानात् । शेषं सुगमम् ॥ ४ ॥
पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्रागामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं पार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

मिति तदर्थात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशयोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य 'भ्रममात्रविषयत्वेन- वस्तुन- एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तित्वं स्थास्यत्येवे'ति- तदपि न 'एष संपत्तादः अस्माच्छरीर- त्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्येन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपी'त्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदमतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखंत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लब्धवर्णमतीक्ष्यं दत्तोत्तर- त्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्कारिकमपतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति- निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु— 'अहं सर्वस्य प्रभवो- मत्तः सर्वं भवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमृत्युरूपास्थममरोचभिः । देवोसुरो मनुष्यो वा यज्ञो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि' तत्त्वतः । ततो मां- तस्यतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्वन्दनानन्दितात्मना ।

शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

श्यादित्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय । ननु तेषु स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्त्रुनिःफलत्वात्फलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करभैषिनीगौतमादिमवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः— पा- पण्डैकप्रथमनेष्टिवति । पापण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु 'त्वं च ख्द्रे'तिसार्द्धेन 'त्वामाराधये'ति श्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्स्वरूपापनेन मतमवर्तनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्या- यात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिमवर्तितवौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुपसक्त्या । शेषं भाव्यत् ॥ ६ ॥

टिप्पणम् ।

'त्वं चेत्यारभ्य- भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च ख्द्रे महावाहो मोक्षशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरुः । त्वामाराध्य यथा शंभो प्रही-

टिप्पणम् ।

प्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा क्लया मानुषादिषु । स्वाम्यैः कल्पितैस्त्वं च
जनान्मद्विमुक्तान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् सष्टिरपोत्तरोत्तरा । 'यद्यदाचरति
श्रेष्ठस्तच्चेदेतेरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मं सर्वं प्रतिष्ठितमिति श्रुतेः पूर्वं दोषाभावात्
धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषव-
तैवान्पया कृ योगिध्येयो भगवान् क दुष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैव दृष्टुते' 'रहगणैतत्'
'भक्त्या त्वनन्यये' त्वादीनाञ्जीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति
तन्माहात्म्यमपि तथेति महाशुक्लद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य
भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयो भूतोऽजामिलादीनां ये दोषासौर्षा नाशकः ।
ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टमापन्नत्वं च धर्मकार्यसूक्त-
मतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीवानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्ता-
दीनि सूचितम् । यद्वा, परम्परासम्बन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसात्त्येनाप्यजामिलोद्गारात्
अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितपखिलं लीलादिरूपं तथेन । श्रेष्ठं प्राप्नुत ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रहगणैतत्तपसा न याति न नेज्यया निर्धयणाद्दृष्टाद्वा । न यन्दनाज्ञैव जलाग्नि-
सूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य जहमेवंविधोर्लून । ज्ञातुं द्रष्टुं
च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयोऽसूत इति । अजामिलादीनामिति
श्रेयः । पञ्चान्तरे त्वजामिलेवरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु पर-
म्परासम्बन्धेन स्वनामज्ञोद्गारात् । दोषोपस्थितावित्पारभ्य सूचितमित्यन्ते—ननु
'श्रुतिस्मृती ममैवाहे वस्ते षष्ठ्युक्त्य वर्तते । आशोच्छेदी मम द्रोशो धञ्जकोपि न मे
मियः' इत्यनेन भक्तिमार्गोपस्थापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः
माहात्म्यादित्यं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, माहात्म्योपस्थितो भगवद्विच्छां ज्ञात्वा प्राय-
श्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामिति । अल्पदोषोपस्थितो
तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनाल्पपरिमुक्तताया-
मपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं थं ऋतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वापो-
रादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायु-
ज्यसिद्धेः 'ये त्वक्षर'मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय
इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारमभवत्वात् । बृहदक्षरं
गणितानन्दकं 'सैपानन्दस्य मीमांसा भवती' त्पारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स
एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता
टिप्पणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरपनिर्देश्यमव्यक्तं पृथुपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं
च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव
सर्वभूतहिते रताः' 'क्लेशोधिकतरस्तेपामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहबन्धिरवाप्यते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैपानन्दस्येति । 'सैपानन्दस्य मीमांसा
भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रिष्टो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा
वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-
नन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणा-
मानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते
ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आज्ञानज्ञानां देवानामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाज्ञानज्ञानां देवानामानन्दाः स एकः
कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यनेन प्रपाठकेन

प्रकाशः ।

पूर्वामन्दश्च । पूर्णव्यासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वां, तस्मात्कृष्ण एव-
गतिर्ममास्त्वित्यर्थः । देवादिसापुत्र्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः समुणत्वेन 'आद्यव्य-
भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनालानन्दत्वेन स्वर्गव-
दमुक्तित्वात् । ज्ञानयोगेऽहस्तुकेर्निर्गुणत्वोपज्ञास्य गणितामन्दत्वेनाह्यत्वात् क्षुधितस्यात्य-
व्यभोजनमभोजनमेवेतिवदयोजकत्वात् । अज्ञातार्थद्वयार्थैर्कर्मप्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषो-
त्तमापेक्षयात्वं च सूचितम् । पूर्वामन्दत्वेन निर्गुणशुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भाव-
नीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीपदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा शुक्तिरस्मादि समुणा सान्यसे-
चये'ति । ननु 'ताविमो वै भगवतो हरेः'शाविहागतौ । भागव्यपाप च भुवः कृष्णो यदुकुल्-
दहौ 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकल्पनादेहस्य च त्रिदिवेशादात्तपि पाश्ची-
तिकल्पनव्यवस्थानियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्यगुणत्वेन श्रेयाद्य कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्द-
रूपत्वानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमा'विरयादीना-
मर्थान्वयगतात् । तथाहि-भगवान् प्रकाशावर्तिनासार्थ सुखदानार्थं च प्रकटः भुवो भार-
व्यपायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेःशौ चागतौ कृष्णयोर्विदुकुल्दहयोः प्रवि-
ष्ट्वायदुकुल्दहौ कृष्णो च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुल्दहत्वाभावात् । तपस्कार्यकर-
णार्थं व्यूहेषु भगवन्स्तत्तदंशपेक्षणादनयोरपि सङ्कर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् ।
अंशयोरैवावतारस्य पूर्णव्यापार्ये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः
परः' । 'चिदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः' इत्यादिकै विशिष्येतात्र चकारश्च व्यर्थः
टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थाः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मयादापुष्टिस्वस्येति शेषः ।
येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारण-
कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारकित्यैव फलं प्रयच्छति तत्र
भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रत्युपहितेषोक्त्यर्थस्य साधनकारकित्वस्य तज्जन्यत्वेन
व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्वस्येत्यर्थः । हेतोर्निष्वाधार-
साधारणत्वात् । ननुययोरपि मुख्यफलवाप्तिवचनेन को वा विशेषः पुष्टिस्वस्येति चेत्
साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहूना । 'ताविमाविरया'रभ्य 'प्रकृतेः परः' इ-
त्यानि वचनानि- 'ताविमो वै भगवतो हरेः'शाविहागतौ । भागव्यपाप च भुवः कृष्णं
यदुकुल्दहौ 'वमो भूः पदसस्याख्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तद्विषय'
संपवन्तु सुरक्षियः' 'चिदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवान्-
स्वस्याः सर्वमुद्दिष्टमिति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भागव्यपाप च भुवः' इत्य-

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवत'तत्त्वार्थदीपे' 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वात्तिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशभंशं विभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाचपं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ' इति । 'वभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्वभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरुत्तुभावैर्लीलाभिश्च नितरां वभावित्यर्थ इति । अन्ययोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविपपत्वादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनापनित्यत्वनिषेधमाश्रित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोद्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्तथाविधेदेहस्वीकारात् । नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकृत्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्येव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोभ्या-
दिष्णम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्त-
कल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिबलेनेति । अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेने-
त्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्पन्वयव्याप्तिः । यत्र
यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न
चाप्रयोजकत्वम्, देहवत् एव कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । वस्तुतस्तु
'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं
शरीरेष्वित्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च ब्रीहियववत् विकल्पसंभवः
'मेषापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं
'द्रा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो' नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव
'पाणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्धेतुनिरूपितव्याप्तावप्यतिव्याप्तिरिति चेत्,
अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणा-
न्तीत्ये' त्यस्य व्याख्याने 'देहाद्यांकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्ताने-
ह्येनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये'त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाङ्कुर्वन्तु ।
आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'मुदितवक्त्र' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म-

प्रकाशः ।

सात् 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलातुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः'
'बहूनि सन्ति नामानि' 'अथवा चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्पत्ये'त्यादिश्रुति-
न्यायपुराणत्रायसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देहमाणेन्द्रियान्तःकरणा-
त्वरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्वाणधर्मोपि । 'नित्यं
विज्ञान'मिति 'पूर्वमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंतः' इत्यादिना नित्यत्वं,
'एष द्वैवानन्दपात्री'तियुतेरानन्दजनरत्नम् । 'कृष्णः शीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदु-
त्तमा शीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवचन उपपाती'त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं
किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वपोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकशो-
भयोः सिद्धयसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मरूपत्वे कथं धर्मरूपत्व-
मिति चेत् 'स यथा सैन्धववनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाचार-
त्वदानन्दरूपत्वतदभासत्त्वयोरविरोधात् । श्रीमद्दस्मत्प्रसुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्व-
न्वचने प्रपञ्चितमिति मात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

टिप्पणम् ।

तन्मो निधेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वग-
तमेदुविवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरुपाणि
वान्पहं वेद नो जनाः' 'अथवा चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमा-
नमाहात्म्यं हरिं सामन्यतत्प्रजम्' 'न चान्तर्न बहिर्पत्ये न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं
बहिश्चान्तर्नगतो यो जगद्ययः' 'मष्टे लोके द्विपराचरिसाने महाभूतेष्वदिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंतः' 'एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः
शीतमनाः पश्यत् । रेने संचारयन्नेः सरिद्रोपस्तु सातुगः' 'वृन्दावनं गौरधने यमुनापु-
लिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा शीती रायमाचवर्षोर्ध्वं' 'सद्वलः सगवतंसविलासः सातुधु-
क्षितिमृतेषु व्रजवेद्यः । हर्षेण्यर्हं येगुस्वेष जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' 'बहुपविर्द्विद
रानविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते । मुदितवरु उपपाति दुरन्ते मोचय
व्रजगवां दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि यत्र भवतीति किदि,
देव्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्यापद्धच सर्वमनोरथपुरस्कृतवात्सर्वकार्यं काम्यत्वात्क्राम्य-
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयपुत्रज्ञा जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्पुष्पम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सन्धेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दस्तिस्थातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्राणादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चित्पुण्येपि वैकल्यादेवताकोपादनिष्ठजननादल्पदत्त्वाद्येदृशस्य विवेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयित्वाचकत्वाद्ब्राह्मचार्यनरणां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, नै, अस्मान्प्रार्थित्वेनान्याधिकारेण कथंनान्द्रमवता वेदेषु 'मयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यज्ञमानाधिकारेण कथन इत्यादौर्पत्वादिति सर्वमनवयम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवांस्तु तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तैःकृता अपि विद्याः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्तत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

दिप्यणम् ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादां रक्षेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यमर्यादीनां सिद्धत्वात्तदत्वापि तत्फलं दद्यात् । फदाचित्तूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नेवेत्, सर्वं स्वस्यैव सांपत्त्यात् । 'यद्यद्विभूतिम्' 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्ठनिवारणात्, 'अव्याहृतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्यं सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादायै वा यदि फलं दद्यात्तदा क्रियाश्रयेणेत्यत आहुः--सर्वत्रैव देशेषु कर्षेषु आश्रयेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यत्वाद्वा किं 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्राग्ने'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः । मर्यादायापि फलदानेन्यनैरपेक्षेण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां भजन्त' इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्याह्न भक्तिः । अत एव 'ब्रह्मस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रांटे अनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते पापव' 'परमो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्यै'त्यादिवाक्यैः कान्यमाद्योपि चैद्भगवद्दीयाश्रितेभ्यो कृतस्तरां पुनरन्ये विप्रकर्तार इति न किञ्चिदुपगमम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्पगनायासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रये विश्रापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपादे शरणस्यसमुद्धारं वितापयामीत्यन्वयः । अनेनैश्वरे दीनभावाः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्मैश्वरतोपहेतुत्वात् ॥ १० ॥

द्विष्णुम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहृतानो'द्वयन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिम्' सर्वं श्रीमद्विष्णु-
तमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसभस्वम्' 'अहं सर्वस्य भवको मत्तः सर्वं प्रव-
र्तते' इति मत्त्वा मनन्ते मां जुषा भावसमन्विताः' 'अव्याहृतानि कृष्णस्य चक्रादी-
न्यानुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापदुम्भो येन विष्णुस्वात्मिव' इति । ताच्छील्यत्वाद्
किञ्चित् । 'आकेश्मच्छीलवद्वर्तसामुक्चारिणि'तिस्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यात्
'तच्चया साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग-सकृदेव प्रपन्नाय वशासीतिः
याचते । अभये सर्वभूतेभ्यो ददाभ्येवद्वतं मम' 'ये दारागारपुत्राग्नेषाणां वित्ति-
परम् । हिंसा मां शरणं याताः कथं वांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां भजन्ते तांस्त-
भजाम्यहम् । मम कर्मानुवर्तन्ते मत्पुत्र्याः पार्य सर्वत्रः' 'दर्शयंस्तद्दिदां लोके आ-
मृत्यवश्यताम् । ब्रह्मस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालवेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृ-

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्ब्रजवालकैः । सहरामो ब्रजस्त्रीणां चिक्रीडे 'जनयन्मुदम्' 'तदर्शनाद्वादिधूत-
हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुचरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीवल्पनासनमाल-
बन्धवे' 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदनां देवमियः कुलपतिः कच किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'
'तथा न ते माधव तावकाः कचिद् भ्रश्यन्ति मार्गाच्चयि वद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता
विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जे प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्यः
शेते मृत्युरस्मादपैति' 'वसति मनसि यस्य सोऽन्यथात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः ।
गतिरथ मम वा त्वास्ति चक्रप्रतिदत्तवीर्यवलयस्य सोऽन्यलोकः' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

'दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश' इति श्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञाप-
यितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेणै-
तस्तोत्रपाठफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति
कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं ययार्थनिरूपकत्वान्नान्यत् । कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं
वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इद-
मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पायासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेत-
त्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः—श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्व-
रूपाभिज्ञत्वान्द्रगवता सर्वोद्धारार्थं मकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नाश्रामामाप्यशङ्का,
नहि भगवान् सत्यवाक् स्ववाचमन्ययाकरोति । यत्र प्रसङ्गाच्चारदकृतं 'तत्तथा साधयि-
ष्यिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं
त्र गत्वा नलकृवरमणीवीरोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं मकटितस्य स्वस्वरूपस्य
कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

'देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मनेति' ॥ ११ ॥

प्रकाशः ।

श्रीपद्मिद्वलनाथपादकमले संकन्य भक्त्या मुदा
 कृष्णैकाग्रभियोय चातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।
 श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिषः
 श्रीगोविन्दस्तुतः प्रकाशप्रकरोद्गपान्मुदै सद्वियाम् ॥ १ ॥
 इति श्रीविद्वलनाथचरणकमलैकानानश्रीकल्याणरायविरचितः
 कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिपणम् ।

द्रीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्गं विशंकटवरं वरसेवकानाम् ।
 यत्प्रभरागमणिवर्षविद्याजमानं तद्वेङ्कटेशमुकुटं प्रकटं रयामः ॥ १ ॥
 निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाम्बरोवरमास्करम् ।
 अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिपणम् ॥ ३ ॥

गुरुश्रीबालकृष्णानापात्स्वनेन सतां मतम् ।

कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तच्चनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपापमानान्तःकरणतिचरो-
 पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं सत्यनिरूपणाभिषं
 कृष्णाश्रयप्रकाशटिपणं समाप्तिमगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनचतुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-
स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्
तमहमतिदयालुं बल्लभारुयं नतोस्मि ॥ १ ॥

धिरश्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा

धिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।

विलोचय सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः

सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां यद्गुणं विद्यमानत्वात्तानि विहाय
किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं
या स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह—सर्वमार्गेषु च ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहाया-
श्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं
अ परमात्मेति शब्ध्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तद्गमोति
ती नारायणाश्रयः' 'सर्वमाश्रयतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वा-
त्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह—कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाह-
तन्व्यनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुविचजादिप्रतिपादकशरीरतन्त्रि-
कक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदा-

ध्रुवः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वदा सर्वशेन कार्यसिद्धयभावं निश्चित्य स्वसिद्धय तथात्-
 निश्चये सत्यस्मार्कं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।
 तथाभवन् तु तद्विच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा
 भाग्यमेवेति निश्चित्वाश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंषण्चानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा
 'अनन्या' इति 'न मे भक्तः मणःश्रयति' इति भगवद्भवं भव्येत । एवं सति सर्वफलरूपसत्-
 याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्वाभावात्, मत्सुत 'वृथिकर्मिये-
 तिन्यायेन स्वस्वदानिमसङ्गः स्यादत्र द्रुमः--कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु
 कृष्णकफलिता तदनुमदैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिमतिवन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ
 कत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामाश्रयो न हीनतामापश्यते । यथा--'योगायाशुभाश्रित' इत्यत्र
 रसमार्गोऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाभाषकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गोऽप्यस्योऽसत्सत्ताने
 भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् त्रियमाणो विभर्ता'
 त्यत्र भगवत्सत्सम्बन्धिनां च परस्परसाधारण्येभावे पोष्यपोषकभावे च नोपयोर्भेदे
 कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत् उत्कर्षाभाषकं, एवं
 तन्मार्गमक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वशेन फलत्वभाष्यस्य स्वस्य साधनतास्योकारो न हीन-
 त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तविविधावः । परमादीनां च स्वसाधनसहितानामेवं
 फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामपिदायीयतयात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्व
 फलस्यावधत्वात्साह--सर्वमार्गेषु नष्टेति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु देवैः
 कृष्ण एव गतिर्मनेत्वेवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोऽप्या तेषां साक्षातां स्वस्वा-
 धिकारातुसारेण फलसाधकत्वं निरूप्यते । नास्तु तेषां सर्वथा फलसाधकत्वरूपः । कलौ
 तत्सम्भारं किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणैषि कृतत्वाभावं दृष्टान्येतेषामनुपलब्धिप्रदानेन
 ततो विश्वासादगमात्साधतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः । ननु सत्प-
 युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत
 आह लालार्धर्मणोति । सलाः सर्वथा वात्साभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्वतुसम्भानरहिताथ,
 अतुसंधानेपि द्वैतार्थनेभ तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्वेषां वा चिकीर्षांशुद्विजनकत्वेन,
 अत एव 'अन्वं गौमिद्युनं पदे'ति तस्यासाधारण्यो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि
 त्यन्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यं-
 आह पापघ्नप्रचुर इति । येषु लोके सन्ध्यायाचरणं कृष्यन्ति महान्तोपि तेषु मया
 मनुसस्यैव कृष्यन्ति, अन्यथा तदा लोके कृष्यत्वं न स्यात् । पूर्ववत्पमानुर्थं-तत्र श्र-
 भावेत्यन्धातुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वदुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भू-
 न्मेवापि तथात्वं संपादकत्वं, यदाभ्यक्तद्वेषो भूत्वा सुखेन तथाकृष्यन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः ' योन्यथा सन्तमात्मानमन्यया प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्यार्थः । तथाहि-मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्यर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पापण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिमतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तवास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्तपैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम् ।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तयात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतयात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात्-क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्त्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्वा सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां श्रयमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां ज्ञातीयानामपि संसर्गात्संयोगपृथक्त्वन्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियद्देशेषु धर्मसाधनतां स्तिवति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्वे एव देशाः पापैकनिलया जाताः । तेषामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यद्वा तास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येषि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि गवा भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टास्तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः । ननु तदाक्रा-

नैव्यपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भेदत्वमपि योगित्वेन त एव सतां धर्मादि-
प्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्त्राह—स्तपीडेति । चिचस्यै हि सर्वेषां स्वध-
र्मानुसन्धानं भवति । सतां चकाराचदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्रः । सतां
मसङ्गे पीडासंभवाच्चदभावे धर्मादिसिद्धयभावाद्दृष्यता । तथासति किं कर्तव्यमित्या-
काङ्क्षायासाह—कृष्ण एवेति । सर्वेषां साधनाभावाद्दर्पाभावेपि भक्तिवत्फलवत्फलमा-
यत्नेन सर्वधर्मदार्पापफलतोष्यधिकफलप्राप्तकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवञ्च
आश्रय एव सर्वेषां कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थाणामतयात्वमुच्यते अलादिरूपाणामपि तेषामतयात्वमाह—

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति । ननु 'गङ्गाजङ्गी'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां
विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा वाच्यन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासर्प तीर्थम्' 'या वै
लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव करिषस्त्वस्योक्तत्वाद्दतीर्थानपि तीर्थी-
कुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतयानातामि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिकुपस्त्वमा-
धिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि—भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्या-
दिवाक्यैर्ज्ञानोद्धारार्थं प्रवृत्तः प्रवर्तितत्वाच्च यथा सर्वे जीवन्तो मूर्धन्यवश्च मृत्या
भवन्ति तदर्थं सर्वेषां चित्तशुद्धयभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावाय शिवेन स्वगणा
गङ्गादिषु स्थापितस्ते तु मण्डलस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न
भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये' तीर्थानि
प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थपरणफलमत एव तत्र मृताःसर्वे
रुद्रपिशाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः कास्यादिषु सुमूर्धुणां मनुष्याः
मात्रेण तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकशक्तोपदेशं शिवः करोतीति श्रु-
तया सति कथं नष्टफलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तध-
रत्कालाभावे न तु तदिति । यद्वा 'त्वं चै'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनु-
तयाकरणे आहामङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीं
दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्बन्धमेव सर्वं करोति
किञ्च, तयोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेऽप्यस्तसङ्गेनापराधाद्वा दैत्यापेक्षे जाते स्वस्यां
माहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वकृपासंपादकत्वेन भगवदमीहितत्वात्

१ ये तीर्थानि प्रचरन्ति कृष्णान्ते निषिद्धिः । य एवावन्वयं मूर्धोक्तं दिव्यो यदा विवृतिः

एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपरा-
ङ्मुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि
नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि
या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णपसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि
सर्वमनवद्यम् । ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थ-
रूपनाशो वा भवेत्त्राहुः तिरोहितेति । जलस्यलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं
तस्माद्दृष्टसंसर्गे अक्षरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव
साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गवहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादि-
नाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेषु तथाभूता भवेद्युस्तदा कार्यं सिद्धयेदेव
तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स
एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः
स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणात्तिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्व-
धर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातित्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तृणामप्यसाधकत्वमुक्तं
भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्य-
सिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तद-
लाभार्थं विशेषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापं निषिद्धकृतिभि-
र्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्विषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेषु स्वोपजीव्यान् परम-
संज्ञदिकं बोधयन्व इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति । लाभार्थं या पूजा
स्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी
नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीना-
सत्त्वाद्ब्रह्मणामप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव ब्रह्मणादीनामसाधक-
त्वात्पूर्वं कर्तृणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्ब्रह्मणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्ग-
ते । तेन 'स्वयं नष्टः पराक्षाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन
स्य परस्य-वागुत्पिकं सिद्धयेत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । दृश्यर्थं तेषां तत्करणात्
प्राशया च गृह्णन्ति मम नामानि चञ्चुन । अमुखास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'

इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्वमतिपादनाद्गर्भजिबत्कृतं सर्वमकृतमायं भवतीत्येवंलघु-
सर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह
कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वेषां
शोचकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वसम्बन्धं तथाह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमहान्युररीकृत्य फलपर्यन्तं स्वस्वनि-
र्धारः । किञ्च, गोपालादिभन्नाणामपि वाराहनाचशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इत्यन-
योपशमं साक्षात्प्रतिबोधयोजने' इतिवचनाद्भवन्भन्नाणां विषयादिपूषयोगोऽपरि-
ज्ञानादेव भवति तेनानयोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाति नष्टत्वम् । गुरु-
कुलावासवद्वयचर्यशूद्राश्रयगानध्यापराहिस्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि
संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक' इतिवायेन सम्पृक्तात्पर्याज्ञानेऽप्यध्ययनमात्रेणैव सर्व-
साधकत्वात्कथं नष्टत्वं तथाह—अव्रतयोगिष्विति । व्रतेष्ववयोगो येषां, व्रतानामयोगो
येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारान्तु सर्व एव गताः कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि
तेषामव्रतयोगित्वम् । ननु किंपित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च,
'दानव्रतवयोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेष्वित्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साध-
कत्वं मन्तव्यं, तेन 'मसालनादि षड्भ्य दूरादस्पर्शनं वरमिति'त्यायेन पूर्वमेव तेषाम-
साधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तथाह—सत्यं, तानि चावधानि प्रावाहिकभक्तिवराणि
नो वे'न्न रोधयति मां योगो न साह्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टाप्-
न दक्षिणाः' 'मां हि पार्य व्याथित्य येपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्त्व'
शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्' 'नायमात्मा पञ्चवनेन लब्धो न मेधया न बहु-
श्रुतेनेत्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सहच्छ्रेयुः । भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं प्रथमसाध्यत्वं
श्रीमत्सामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रवञ्चितमस्वीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु '
रोधयति मां योगो न साह्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्मोर्जितां
'न दानं न तपो नेध्या न शौचं न व्रतानि च' 'श्रीयतेमलया भलया हरिरन्वद्विदम्बनम्,
'सर्वधर्मान् परित्यज्य भाग्येकं शरणं ब्रज' 'नष्टं वेदेन तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवद्द-
कृतानामेव तत्प्राप्तिः । तस्माद्भवदाश्रये कर्मादीन्मयोजयानि । ननु 'सात्वत्कर्माणि कुर्व-
न निर्विद्येत' यावते'त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणायव-

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरण-
मेकादशीनन्माष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्र-
तादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—‘यस्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो ’ ‘यत्करोषि
यद्भ्रासि यञ्जुहोषि ददासि यत्’ इति । तेन भगवदीयकृतकर्पणां ‘यस्य स्मृत्ये-
त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गायाणां तेषां तेभ्यो भेदः
सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्प्राप्तिस्तत्राकामतयापि
कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्रयम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये
मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह
नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यमसादानां विद्यमानत्वात्कथमप-
रिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन
गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कार्यं न
कार्यमितिद्विरतत्राह—

यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मगतानां पापण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मज्ञानाणा-
मप्याश्रय एव साधोयान्तित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गभवेन्नयोग्यानां 'गतिर्ममे'त्येवंरूपोक्ति-
यात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मशास्त्रे भगवतः सर्वाश्रयत्वेऽपि सर्वार्थं
भक्तिमार्गायाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयमवने पदानुत्साहो भवति । यथा
स्वनाममाहात्म्यरूपवापनार्थं नामोक्तियात्रेणैवानामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्म-
पक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गायाश्रयमाहात्म्यरूपवापनार्थं तादृशोक्तियात्रेणैव
भगवैस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क जीवाः क्षुद्रतमाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो
भगवानितियाश्रयमवनिश्रयमाभावे कथं वा तद्गुह्यं तथोक्तौ मृष्टचिरपि भवेत्तत्राह—
अनुभवे इति । अत्रात्मच्छब्दोऽप्याहर्तव्यः । एवमाश्रयमवनेऽनुभवो भगवान् पदनुभवे
स्थित इति निर्णीतार्थं वदापीत्यज्ञानाम्यथाज्ञानमतिहूलतकैर्नाम्यथा शङ्कनीयमिति
भावः । चित्तस्वातन्त्र्यादेऽपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यं पदनुभूतो भग-
वानप्यनुभवशक्तो भवतीति पदार्थैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यर्थं विस्तरेण । मनु गथा कलौ
श्रुत्वादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्वक्षयति
मेदिनीम् । तर्द्धं जाह्नवीतोषं तर्द्धं घाम्पदेयता' इत्यादिना वाह्यतो पण्यसाम्निध्या-
भारे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं पविष्यतीति क्रयभङ्गात्माहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ मृष्टत्वा
भविष्यतीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा क्षुतिपूराणर्द्धं
भागवतादिना साक्षात्स्वस्मरया वा माहात्म्यं यस्य येनेति च । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्त्-
दात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वत्रोधिक्या श्रुत्या माहात्म्यरूपवापनं
मृष्टचित्तपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमतिस्वार्थं
मेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जुम्भतो दद्रे इदम्' पण्ड
'गरिमाणं शिशोर्वेदं न सेदे गिरिहृदयम्' एवमृषामुक्त्वा सर्वत्र ॥ ७ ॥

मनु 'आकाशात्स्वितं तोषं यथे'त्यादिनोक्तमकारेण देवतान्तरं भजतामपि स-
मुक्तौ भगवत्स्मरणो पविष्यतीति किमित्येवं निर्वन्धेनाश्रय एवोच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो ह्यस्तिस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपा-
 तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतुनाम-
 गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देषु न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतिः कः पुरुषार्थः
 सिद्धयेत् । तथापि विराटक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-
 णेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णाति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते ।
 तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्याच्चत्राह—हरिरिति । यत्र 'प्यस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि पात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-
 मन्यपूरकत्वं तदस्वीयत्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिवनेनावगमस्याशक्यत्वादेवम-
 पूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं
 भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्तपुत्रस्यर्थं तदाह्वयार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमि-
 तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयपरक्षायाश्च तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-
 त्वात्कथं श्रीमतपिब बावपं विसंवादि भवतीति चेत्त्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयात्-
त्वचिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाश्रयस्यधीति भावः । तर्हि पूर्ववाच्यमनुपपन्न-
मिति चेत्, न, अनन्वोभात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभ-
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वाद्देवस्थापयर्थः—विवेकधर्मभक्त्यादिसहितास्तु
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तदानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यापावमिति
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिप्रतया विवेकधर्मभक्तिप्रतया चेतस्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य
दशकरणे शोफोत्सर्गो पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मं तद-
संभवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैतैर्पापवि शोकासंभवः । परं तद्विपरीततां तु
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेत्येव श्रीमोकुलेशाङ्गीकारमात्र्यात्तद्वलाद्य तस्यागः सुलभ इति
सुपूर्वकं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'धेयांसि बहुविघ्नानी'तिन्यायेन श्रितिवन्धकानां दृष्टादृष्टमेदाभ्यासुक्त्वा
विद्यमानत्वात्कथमुक्तिप्रायेण चाङ्घ्रिकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवासिद्धार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तृपकर्तृपन्मयाकर्तृसामर्थ्यादिरूपैः सहितः ।
ननु तत्र दृष्टान्तनिर्द्देशनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रैति । सर्वत्र योग्या-
योग्यविचारेणासिद्धानामसिद्धान् कार्यान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्थाचिना-
शित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनप्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवत्
सर्वसमत्वारसर्वसुलभयनसरेऽप्यार्थितः कथमुद्धारिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थित्वास्तेषामुद्धारणे ज्यायार्थितोपि भूक्तमभयतः सर्वदेव वक्त
किं पुनर्मत्वार्यितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायापि ब्रह्मणा भूम्या दुःसनिवेदनस्य
प्रार्थनानन्तरयेव सर्गाद्यो तद्विरः श्रवणानन्तरमेव साक्षात्प्रगवानवतीर्षामास्तुद्धारिष्यतीत्ये-
निश्चयो जात एव मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा
परित्यज्याश्रय पत्र कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैर्कृतं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति
यदा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्माकृतिमपेक्ष-

नवभिन्न स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य सायकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविपर्ययिष्णुत्कटेच्छा च पूर्वावधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः। तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तत्तद्दर्माविष्टान्तःकरणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां व्रजस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धकोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मरूपमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्माणां स्वरूपं तद्दर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाष्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

व्रजपतिरतिमित्यं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।

स्वजनपरिवृद्धो धुक् संततः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वं विद्वलेशः सुकेशः ॥ १ ॥

सचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतिगमम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।

व्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विद्वलेशम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविद्वृत्तिं द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।

आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता

कृष्णाश्रयविद्वृत्तिः सम्पूर्णा ।

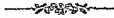


श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमोक्षीजनबहुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



श्रीमद्भृजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

पद्यापयपात्रकपनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः मसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुमदतः कृष्णाश्रयस्य विद्वतिर्मया ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदङ्गातुसारेण जनानुदत्तु निवन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिपार्श्वानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराविक्रयेन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयपदपिष्टकन्तः, कस्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत्र कायिकादिभेदेन विधा भवति, तत्र प्रथमं मानसे शरणं भावनात्मकं भवति, एवात् कायिकं तद्वैषेण सिद्धयति, वाचनिकं तु 'ममत्वं पादि मां ममो' इत्यादिमार्थनाश्रयम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यङ्कुरस्तुतौ 'असतां दुरावं तवाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुमयेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कृष्यात् स्थानयेत् तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'पित्पारभ्य 'सस्तेषाम्चिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छान्तापरत्वं चान्तिमज्जमहावक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपहास्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये तादृशी शरणामतिविवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति अक्ष्यादिपार्श्वानां दुःस-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निवन्धादाङ्कुरतोपि दुर्गेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वा-निकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्धैर्यावतरणिका कायि नोक्ता परन्तु आविरासीदोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिः । निमदास्यं स नो देयाद्व्यादपि दुराश्रया दि'तिमङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु भार्यनस्य च कथनेन सूचितेति विरोधः । एवं कल्याणराशैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधक-चोक्तमिति तेषामप्यपमेवासायः । श्लोकसङ्घातात्तत्पर्यं तैरेवमुक्तं 'मक्तानां भगवत्स-

देशादिपट्टसाधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति', स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवापि साधक इति बोधनाय मार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरस्तु 'आभासश्च निरोधश्चेति वाक्यलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपश्चमा इहां भक्षयन्ती'तिवदत्र दशसहस्रा- पूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्धाटितः । तथा च 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इति वाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्पदपि प्रतिभाति—यथाक्रूरेण प्रसन्न- प्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्ति- मार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्गतिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्या मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृपिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः । तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुतेः, 'पापकर्मणो ह वै'ति च । ब्रह्मवै- वर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्धाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येऽपि 'कृपिस्तुष्टव- ष्वनो णश्च सद्भक्तिवाचकः । अत्रापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्वुधाः' 'कृपिश्च परमानन्दे णश्च तदास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृपिः क्लेशे च वर्तेते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । त्रि- तृतीयेन 'पापकर्मण' इति तापनीयश्रुतिरुपवृंहिता । गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्या- ष्टिकायां च 'कृपिशब्दश्च सत्तार्यो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमय- श्च' इति ।

सदानन्दयोरन्वयित्तं निवेश्य सधिदानन्दतया परंब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं चित्रवमितिभेदाः ।
 अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैयर्थे नापकरणपसङ्गे मर्गेणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः ।
 ज्ञानन्दे च निरवधिस्त्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्वानन्दमपाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै
 भूमा तत्सुखं नाल्ये सुखपस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वैव निम्निसासितव्यः' इति छन्दोगश्रुते-
 'र्थतो वाचो निवर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च । तत्रायं
 यथा परशोच्छिदा । द्वितीयं यथा योगाद्भ्रातृसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्यारूपत्वस्याभावा-
 द्वितीयरूपत्वेन वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैव वृणुते तेन लभ्य' इति ध्रुवस्या स्वीपत्वेन
 वरणे यत्साक्षादर्शने तदेव हेतुः । तथा सति 'नापयात्या प्रवचनेने'त्यादिपूर्वाद्धि उपलक्ष-
 णविषया साधनान्तरनिषेधथापनेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च
 ब्रह्मवैयर्थोपबृंहणेऽपि सिद्धम् । तदेतद् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायाद्य-
 शास्त्रेऽनुब्रह्मचर्याणां कालादीनां सन्निवृत्तारोचोपकारकाणामसाधकत्वं दोषाश्च षडन्त
 उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति पार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'सृष्ट्वां श्रुद्धौ' मृत्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेषणे'
 मृत्यन्ते तत्फलार्थिभिरन्वियन्त इति मृगाः, स्वार्थेण च एव मार्गाः 'पीमास्ययो यथा
 मोक्ता नृणां श्रेयोविधित्साया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च मोयायोन्योस्ति कथनेने'त्येकादशे
 भगवतोक्ताः स्वमाप्सुयायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्त्रदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो-
 ष्यारूपातरिक्तिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च'
 भावेन भावलक्षणमित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्त्रदौर्लभ्यादी हेतुः—खलध-
 र्मणि कलौ लोके पापण्डप्रचुरं सतीति । चोवधारणे । खलोन्तर्दृष्टो धर्मो यस्मिन्स-
 खलधर्मा 'धर्माद्विन्निच केवलादि'त्यनेनानिच । खलधर्मत्वे हेतुलोकानां पापण्डमापुर्व-
 पापण्ड उपधर्मो जैनद्वयादिसहस्ररत्नस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कथावित्पथिकरणे सप्तमी
 आपारत्वं चाशामिष्णवापकतया कालिभक्तमन्वयेन गौणोपश्लेषिकतया वा । तथाचैताद-
 कलाविधि लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः । 'पष्टो चानादरे' इत्यनेनानादरे ष-
 कलाविधि सप्तमी । हेतुहेतुमत्रत्वस्तु समभिव्याहारत्वेन लभ्यः । तथाचैतादरे लोके एव
 ममार्गेषु सत्सु कलिमनादत्य तद्वयं त्यक्तत्वा तथेत्यर्थः । 'कलेदोषनिधे राजन्' 'क-
 सभाजनन्याया' इत्यादिनामेषु कलिस्तुवेस्त्व साधकत्वभ्रमवारणाय फीर्षनस्याः
 यथाक्रमञ्चित्तस्य न फलसाधकत्वमिति बोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम् ।

‘कृष्ण’पदात्संपदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम् । तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयित्-
 त्त्रिधित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः । यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु ‘वादवादांस्त्य-
 जेत्तर्कान् पक्षं कंच न संश्रयेद्दि’तिसप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षित-
 मार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे । चका-
 रोत्र तन्नाशसमुच्चायकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ
 कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेनपङ्क्तौ बोध्यः ।
 एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतयां-
 शकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु ‘खरधर्मिणी’ति
 पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मधेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेन्प्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे
 ‘क’प्रत्ययापतिभिवाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, मायातरणे
 प्रपञ्चतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । प्रार्थना तु सर्वमते-
 प्यन्यथा ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपवाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानाम-
 साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वात्तत्र च ‘काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये
 मयुरैव धन्या । या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्पुदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि’त्यादिभिर्दे-
 शस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य ‘देशान् पुष्पानांश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि’-
 त्यादिभिर्वाक्यैर्माणांनुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषा-
 दिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी । चोत्रधारणे । कलावित्यनुपज्यते । देशेषु म्लेच्छै-
 र्भ्रमैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरत्र तदा-
 यानुरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि । ‘एके
 वृक्षान्यकेवलाः’ तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारचौर्यदौर्जन्यादीनामेक-
 षोडशेषु मुख्यस्थानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो हिंसाश्च, ततस्तत्र व्यभिचारादिकं
 भवन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च । ‘तद्वलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भल्यादिना तथा
 विदधतीत्येव दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैव दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः—
 अत्पीडेत्यादि । सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपकेशेन व्यग्रा
 उद्दिष्टा लोकाः सम्यग्ज्ञो जना येष्विति । एवं च कलिहृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः ।

तामसप्रभुकल्पम्, पाषाणहृत्पद्मम्, सत्पीडा, सद्दुःखधैत्यैवैकपद्मेण सम्पत्तुपशक्त्या, सर्व-
पापेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकमृष्याय तेषां चाश्रित्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशवहिः-
सम्बन्धान्यां शोधकृतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वाच्च च 'सद्यः पुनाति गाक्ष्यं दर्शनादेव
नार्भदम्' 'कावेरी च महापुण्या मतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा
मनुजेश्वर' 'प्रायो भक्ता भवन्ति बामुदेवपलाययाः' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गा-
नुकूलत्वमतीतेस्तेषु तथास्वप्नं चारभितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादि-
तीर्थवर्षेण्यति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये
दूषितास्तैरेव धेष्टितेषु । अत्रापि भावच्छन्नैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न ह्यं यास्ये
नरा मत्पामृजन्तपयश् । मृत्रायि तद्वं कुव राजस्तव चिचिन्पतामि'तिनवमस्कन्धे मगी-
रथं मति गङ्गावाभ्यामुद्यारवणेन तेष्वपि शक्तिक्रौञ्चदोष इत्यर्थः । ननु 'सायणो
न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकाभावनाः । इरन्त्यथं तद्गसङ्गासेन्वास्ते शयमिदरिरिति
तत्रैव गङ्गां मति भगीरथवाजपापादनां सङ्गादिना दक्षिण्येस्तस्य मायिकत्वात्प्रायं दोष
इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-
समूहे विद्यमानं गङ्गादेदैवताकारम्, तिरोहितं अपिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम्
तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोहानाञ्चक्तिक्रौञ्चवत्
द्वयस्थमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिदैवस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमू-
हेष्विति । 'तत्तेषां न मियं गन्तुंथा वियुरिति' विमस्य च संन्यसतो देवा दारादि-
पिणः । विद्रे कुर्वन्त्ययं हासपानाक्रम्य समिपात्परमिति' श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्य-
किस्तेषां न मियेति तद्विद्वन्त्यर्थं चारह्यवाभ्यादौ भुजयथावय भगवत्पार्थनावदत्र तीया
दुष्टेयाविदय प्रतिश्रद्धन्तस्तिरोहिताभयो भवन्त्यतः शक्तिसङ्गाधेपि दोषतादेवस्थयम्
कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थानपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत्
कृष्णमसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इतिनिबन्धोक्तौ मुक्तिरपि प्रत्यक्षा
रूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न शम्भयानि तीर्थानि न देवा मुच्छिन्नामयाः । ते पुनन्त्युक्तकाल-
दर्शनादेव साधव' इतिवाचयत्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य 'मसङ्गमजरे पाशपास'

कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तत्र तथा-
त्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पु-
षेप्त्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्वयमाहुः
पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च ग्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीवि-
केषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेऽप्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभे-
त्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते,
तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तथाच
मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तर-
ङ्गत्वाच्च च 'परिहाय्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो
भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु
'नारीषु नानाद्वयजन्मभेदेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष'
'इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं
वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वत्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुपपन्नो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च
'परिज्ञानमित्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरूपसत्त्वादिना
ज्ञानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरू-
पस्य श्रावणत्वेऽपि शुद्धचमायेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वचि-
त्स्यचित्परिज्ञानदर्शनादोपान्तरमाहुः—अत्रतयोगिष्विति । 'अत्रता वद्वोऽशौचा'
'देतेद्वादशस्कन्धे कलिधर्मपृक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासत्रह्यचर्याध्वयनधर्म-
'स्त्रिपालनाभावादत्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

द्वितीयैवेति । तिरोहिनावतीवपानौ अर्थः प्रयोगं तात्पर्यं च देवोपिष्टानी
देवता तौ येषाम् । 'य एनं शुक्ले स्याणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्जलाः प्ररोहेषुः पलाशा-
नी'त्यादिश्रुतिभूक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तदुभयविरोधावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानीं
साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं मन्वापेक्षयापि स्वधर्माणां प्रवृत्तानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन
तुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वाच्च य 'स्वधर्मस्थो यजन्पत्नैःनाशीः काम उद्वह । न याति स्वर्गनरकौ
यजन्पन्न समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थो नयः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्ति
च यदृच्छते' 'रेकादशरुन्धीयैः' 'किदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न वियते' 'तथा चैकादशी
येका गर्भवाससप्तह्वरी । एकादशीसप्तं पुण्यं न भूते न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्वरी-
यैर्भगवद्वाक्यैराचारमन्त्रो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीमैश्च वाक्यैर्षर्वव्रता-
दीनां साधकत्वादिषतीतेस्तेषु तयास्वप्नं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः
नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकारतैर्विशेषेण स्वरूपेण फला-
दिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपो नाथो वेदवादानां वादात् । 'यावज्जीवे-
त्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीकर्मं विदष्टं मस्यपुण्यकृत्य । मत्तापोरुपनिःस्वानां
जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरुपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्रो
मोहिता विना दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्टयर्थं दशपीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि-
मात्रे' 'पुरा देवैर्कथितैः स्वपदच्छुतिशङ्कया । सप्तमीवेषकालेन गोपितं चाष्टमीव्रतं'मि-
रुद्धान्देव्यत्र च निवेशन्दिवावेवैचस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानस्तेषु तदनाह-
स्वस्वाग्रहेण वाचपाभासारुपायाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः ।
स्वधर्माचारयोरपि विषयविषया फलतो नाथो बोध्यः । वादे प्रयोनकमाहुः पापण्डेति
पापण्डेन दम्भेन एकोन्यःप्रयत्न उद्यमो येषामिति । स च 'येषामेवमस्तु सीधुगन्धि'
लनावधवाप्रवामोदिवैर्नात्वा निर्भरमन्मथोत्सवरतैरसिद्धचन्द्रशयाः । सर्वज्ञा इति दीक्षि
इति चिरालयाहासिहोत्रा इति प्रलम्बा इति तपसा इति दिवा भूर्तेजगद्भ्यक्त
इतिवद्वोध्यः । अत एव भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न
मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं पङ्क्तिर्भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधन-
मुत्सेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमा-
हात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः पण्डस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मवन्द्युः । आदि-
पदेन गजेन्द्राहल्याद्या, वृसिंहपुराणे नवपाध्याये मार्कण्डेयमृत्युमसङ्गे उक्ता नारकिणश्च,
तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृश-
माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । मत्स्यज्ञमाहुः अनुभव इत्यादि । अनु-
भवेऽस्माकं स्थितो विपयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन मपन्नस्य पायातरणे सति
प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्ववर्षेण शब्दे
श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ बोधयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां
विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दमत्स्यज्ञाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतित्रिभ्रवैवर्त्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गा-
णां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं
साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, मजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत्-
'अग्निस्त्वमो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्वा देवता' इत्यपवादो विष्ण्वन्ताः । अत्र
विष्णुः कालः, 'स विष्ण्वारव्योधिपज्ञोसौ कालः कलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा ।
नारं ब्रह्माणं नामाजुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति मणवमात्राधिष्ठातारो
वादयो वा मजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे
कृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'तिश्रुवेस्तदधीनाः । कालस्य सौम-
या गुणाजुरोचित्वेन गुणाधिष्ठातृगामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहदक्षरं गणिता-
न्दकं, गणितः 'स एको यानुप आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको
गण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवंसह्यात आनन्दो यत्र, स्वार्थे
तादृशम् । तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा
पि तत्रैव मविशन्तीनियोधितम् । हरिः पुरुषोचयोऽक्षरात्परतः परः स उच्यते पुरुषः ।

‘अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम’ इत्यादिधृतिस्मृतिपतिपाद्यः । पूर्णानन्दः । शतानन्दसहस्रयाने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवागगोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुच्यते । यतो वाचो निर्वर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वात्र विभेति कुतश्चेत्तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिक्यस्त्वानवधित्वस्य च बोधगत्या । तस्मादानन्दे निवृत्तचित्तस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चाश्रय विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मय परमफलक्योस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तद्व्याप्येऽपि यथा स फलं साधयति तदुपायं वदन्त आहुः विवेकैःप्रादि ।

१ विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छतः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः । साच्चिकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः गुरुदः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तद्व्याप्ये । साङ्गे ज्ञानकर्मणो च । ते रहितस्पर्शेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम् । वाचकस्यचाप्राहुः विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गान्तिशयोपरिहास्यःसङ्ग इति यावत् । एता- यवा‘नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत’ इतिपाठ्यस्मारणात्तत्प्रत्यक्षो मतिः । अन्यकमपि सूचितम् । एवं यावत्प्रत्यक्षसद्व्येति येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीन- स्येति । एवं साधकाभाववाचकसङ्गवाग्धं जातया म्भान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरने- जस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंकारिकाया म्भाने- सतां दुरापत्वात् सतां भार्यादिज्ञानं म्भानो साधनान्तरेषु महत्तरेषु तादृशम्लानि- मपचिभ्यां तदुभयविलक्षणतया ‘सोहं तत्राङ्गी’त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन स- ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतायां ‘यां हि पार्थ न्यपयाश्रित्य’ ‘अपि चेत्तुदा- चार’इत्यत्र भगवताज्ञप्तः । नच पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिहक्ता न तु पापकर्मणाम् द्वितीये चानन्यमननेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्याश्रयेणेति नैतद्व्यपमाश्रयेण ‘सिद्धे- कमिति शङ्कयं, ‘सङ्गदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो द- त्येतद्भवं हरेरितिगार्कड्यात्, ‘सङ्गदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं स भूतेभ्यो ददाम्येतद्भवं ममे’तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्यपाद्य मगवत्स्तादृशे । त्रै नि- ततो भगवद्गुरुहेणैव तत्र श्रुत्वापि माहात्म्यज्ञानपूर्वकलोऽस्यैव द्वारस्त्वनिधयदिनु-

भाक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामिति' भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैर्न्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्ययाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादितं'मन्नामिन्द्रादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रांस्तुपनीवन्ति' 'एष ह्येवानन्द्याती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतदर्भतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्याद्द्वयाहारानाक्रमाच्च 'प्रथमान्तद्वयमहंपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैर्न्याभावेपि पयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणरूपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदाढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्दरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढ्यमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । अत्र श्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रवृत्तादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेतुपपाठ च । ननु मनसा मेने स्वपरासद्गृहाश्रयमिति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्थनामक-
दशुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीमर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । तथाचैवमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चय-
दर्थमपक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तो-
त्रानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधायैतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरण-
वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणा-
र्थरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं मार्गां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, एष तन्व्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति ।
 तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति
 तदधिकारिष्वेव मन्दपथमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-
 धैर्यश्रयोसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यैकादशे 'योगाद्ययो मये' त्यत्र 'ज्ञानं
 कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र
 भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं 'त्वयैतपरमं गुह्यमि' त्यश्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादियेषां
 तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभाषेन भजनरूपास्ते यतो
 दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्यश्रयोक्तरीतिक आश्रयः,
 अत एव 'स्वाम्यभिभावसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपुत्रं तदृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः ।
 अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुसङ्गरूपम् । एतन्मार्गमविष्टाना-
 मतिमन्यन्तपापिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रशाख्या भवति तामनुसन्त्यायास्यो-
 क्तात्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं वृत्तमेव ।
 किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपाविचारे रसालम्बनद्वयभिन्नरसात्मा स्वयं भवति ।
 उपवृद्धिं चेदं ब्रह्मवैवर्तेषुश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु 'वर्धते सा ब्रजे राधा युक्ते
 चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो
 वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमिति । । 'पिताइमस्य
 जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणापि 'वैश्वानरादत्तपतेः' 'वस्तुतः
 कृष्ण एवे'ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयद्वयस्य विन्दात्मकत्वमुभयत्पत्तत्वं
 सिद्धयति । किञ्च, सप्तश्लोकां सर्वोपमे च 'श्रीभागवतमविषदे'त्वादि 'तत्सारभू-
 रासस्त्रीभावपूरितविषय' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् मति प-
 षदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं व्याख्यायते तदा
 न दोषः । तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षमिष्येन चात्र परोक्षवादादुक्तप्र-
 प्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिपोषतेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु न-
 तदुपायकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु । स्वस्तोन्तर्दृष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो वसिंस्ता-
 कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृप्रातिशयरूपाविनिषयके मन्त्रे हृदयादपयते । च-
 रेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पापण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः मन्त्रो यस्मिन्
 द्यो कोके सख्यादौ चादृश्यमानं । विरहेण तेषु दोषारोपस्तथाभवस्यानित्यकामित्या-
 वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम शृण्वन्ः सदानन्दरादृशतापेहृदि वि-
 न्यमान एव गतिर्विदिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यव्याहृत्य प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसा-

वैफल्यबोधनेन स्वस्थातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुद्दुः सुस्वरं राजन्वित्त्र
फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेपि बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—म्लेच्छाक्रान्ते-
त्यादि । म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दा-
नादिष्वाक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्थायिभावः सः अपः असरको
यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलयेषु 'सोयं वसन्तसमयो
विपिनं तदेतत् सोयं निङ्गुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलाङ्गो
नालोकि पुष्पधनुषः प्रयमावतार' इतिवत्तद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोवधारणे । तेन
पूर्वमतयात्मनभिज्ञत्वम्वन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा
तया व्यग्रा लोकाः स्वैर्पैकान्तमक्ता येषु । एतादृशोऽवसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह, वृन्दावनादिदेशे
गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गत' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वारतादिर्यस्याः सा
गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि घट्टविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, 'नद्यस्तदे'
त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्वाराहित्येन दुष्टैरेवावृत्तेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहि-
ताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भाग्येयं भाग्यमिति
कोशादस्मद्भाग्यं, 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते
चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मृतुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकृतापजनके-
त्येति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सत्सङ्गस्पाप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्पादि । निन्दायां सर्वत्र
साधिवयमेव बीजं ननु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्पृश्यो भगवानस्मत्पार्थित
विश्रान्यत्र फलिप्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तम्भेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्त-
संज्ञितो विरहस्तमनु लक्ष्मीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यदृश इदानीं तैरपि सह
मिलतीति । तद्गमकं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्थं पूजा लाभपूजा
यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्क-
र्तुं तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलानां नित्यत्वात्तापेनासञ्चितभ्रमवचदाविर्भावात्ते-
षु मिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरुणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—
शरीरिति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दमृतु'रितिस्थानसाप-

श्रीमद्भजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यिकविलापस्यंश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया वैज्ञतिपु । अत एव अवगतयोगिपु ज्ञान-
गोचरत्वेपि जपादिनियमयोगिपु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः
अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्चामासङ्गिक-मुख्य-
महिषीमासङ्गिक-समर्पणादिमासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोऽप्यतिवापाधिक्येन स्वस्वाशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-
मानेत्यादि । नानामकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरचनितादीनां
कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्पुण्यति, द्वारकायामुज्जयिण्यां प्राञ्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्था-
दायेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमद्ब्रह्मवानीतसन्देशादितसंबादादिरूपा वा,
तैत्तिरीयैषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्भवादिषु । किञ्च, पापपण्डः कापट्यं,
तैनेको मुख्यः प्रयत्नो बहिरुद्यमो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेवज्ञोपनाय
लोकिकवैदिकविहितमार्गादिकर्मभगवद्भवादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तच्छ्रुतिरपीति
वादेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःपादुरभूचतस्तपावस्थयाहुः-अजामिलादीति ।
जामि आलस्यं 'जायि वैतथज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चो पुरोडाशवि'स्यादिश्रुतौ । तपा-
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न
जायि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति शृङ्खत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च ।
तद्गुणसंविज्ञानः । शैष्ट्येण विलम्बेन च भगवदिप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा
दोषा मानादय आज्ञाघकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यये
स्थितो गोवरीमन्त्र । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावात्
मथुराद्वारकास्थित्यादि तच्छ्रीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमज्ञ-
विस्मरणातिमियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन, योग्यतमानाम्
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्ययेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदज्ञोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः-प्राकृ-
स्तादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुस-
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदत्तरं गुह-
परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सहपात आनन्दो
प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेवं कं गुहं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् रि-
प्रात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च

देवानन्दतिरोभावहतां कृष्ण एव तस्मान्मम तथेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवल-
परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्नाहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्या तथाहुः—विवेके-
त्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीर-
सेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहा-
त्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्य-
मेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोगेष्वपि योग्यतासम्पादनं
कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति
सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण !
पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्धधन्तत्वेन व्याख्या-
तमित्यस्माभिरपि तयोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि किञ्चन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्गी-
रीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावमकटनायाज्ञापावतीर्णः विज्ञाप-
यामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तयोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति—कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वामि-
त्तीभावपूरितत्वात् बह्वृभो भगवतः प्रिय आचार्यवयोत्रचोदिति, यः पठेत् एवमनुसन्द-
धानो योऽस्मद्विषयोगावस्यां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो
भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरान-
न्वयाद्विज्ञापनाद्वाराच्च, अत्र दुरान्वयोप्यदुष्ट एव । 'विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह' ।
इत्येवमसर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमार्ति प्रियाभित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च
श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका
संयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीबलुभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विदितं तत्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमदह्वभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीदयामलात्मजश्रीवज-
राजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रचिवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिदृष्ट्यैऋविन्दुसर्वे रसाद्रिता ।
कृष्णलीलाभिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाथये मुदा ।
तेनैव यम सदावयवोषो वोष्यो हि ज्ञापते ॥ २ ॥
दुष्टिमागीदिच्छीलाभिः स्वानन्दं पुरयन्तिनम् ।
स्वाश्रयं कुस्तो यत्र तमहं कृष्णदाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेषा निरूप्यते मर्यादादृष्टिमेवेन । तत्र मर्यादाया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । दुष्टिमागीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालविषयसामान्यां कलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः दुष्टिमागीयानामाश्रयस्तादृशोत्र निरूप्यते मकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि मयं परमकृपास्तुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूप्यते कृष्णाश्रय-सुष्टिकलदानेच्छया यं दृष्टते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्धतसद्भावानुरागतो भगवत्सेवा-महात्तिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तपर्येण । उक्तस्तादृशानुरागपूर्वकत्वेवादिकरणोद्धृष्टिसि-धेमासक्तिजनितदुष्टिमागीयभावात्कुराणां 'भगवता सद् संज्ञाय' इत्याद्युक्तमकारक-वनाया अवश्यसंभवाच्च तद्वर्षमाकृत्ये विनावीयसद्भावानुरोपादन्तःस्वरूपास्तुभवतिव-सति तदपेक्षानितात्यां भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निर्दिष्टैरश्रयपत्ताच्छरणमतिक्रमयत । श्रीमदाचार्यचरणस्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तदृशदुष्टिमागीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव मयेक-स्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्यासाधकत्वबुद्ध्याऽऽचिरेवेति तत्र्यागकरणान्नाष्टा एवेत्य-वयता 'यश्च अदर्शने' इति पातक्यविवारेण नष्टा ब्रह्मता वा । तेषां दर्शनेनानयोरप्येक-

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः खलधमिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्दयतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोपत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेदोपनिधे राजन्' 'कलिं समाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तयोक्तम् । भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पापण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तयोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुत्तरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्तत्काले तत्तद्दर्मानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समसं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकाराद्बुद्धेः तया । 'शृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तदभावात्तत्सङ्घोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः—पापण्डेति । लोके पुष्टिमार्गीये पापण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पापण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिन्नादृशे सति । 'यया न कोपि जानाति'त्या कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावानामुच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव निरूप्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं रिप्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवद्ब्रीह्याप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्धबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडान्वयप्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विपयिणी, मन्त्रायुपासंकाः, फर्ममार्गीयाश्च । अपि तेऽनिपिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती' श्रेयश्चया फर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां कथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्तैः ज्ञेयान्ताः सर्वे प्रवेशा, अत एव तच्छ्रीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः । यद्वा तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गण भावनाशे किमु वक्तव्य-
मिति फेमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाकाङ्क्षित्यार्थं
किन्तु तद्भय एव जाता इत्याहुः । पर्यैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तयोक्तम् ।
एतेन तत्र गमनप्रायेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो
स्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिच्छश्लोके स्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षाचर्चनानां सङ्घट्टेणा-
साधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तथापि केचन
निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्त्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि, तत्रत्यानां
देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, वदेशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति
एत्त्रिग्रहाशयत्वान्निवृत्तिचरणानां खेदो जायत इति वदन्तैव स्वधर्मनाशमनिता पीडा, तथा
व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्याघ्रा लोका धर्मशीला मेषु । यत्र स्पृष्टदृष्टी-
नामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिवृत्तमैत्रिकाणां तादृशानां भावनीयित्ये किमु वाच्यम् ।
गृहशानामप्येपि स्यात्तुमशक्तेरितिभावः । त्रयाचोक्तं 'अस्माकं तन्ममृति नान्यसप्तसमि-
त्युत्रं विवरणे 'एषा व्याघ्रादे देहाभिगमनी'ति फलप्रकरणे । अतस्तद्भावोपगमे मति-
बन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कूट्य एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत एवाद्यैक-
कपनःसिद्धाविति विवेकधैर्याश्रयेत्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते
समीचीनास्ते सह सङ्गो न वापक इत्याद्यद्वयं द्रव्याणामष्टद्वयां शुद्धस्य तेषामपि सङ्गो
वापक इतीतरमार्गापाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षा भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां विरूपमिति सिद्धान्त-
मुक्तावस्थां स्फुरीकृतं, तत्रिविधत्वमपि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभे-
दप्रवादभक्तिमार्गापज्ञानमार्गव्यमर्षादाभक्तिमार्गाया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवा-
भक्तिमार्गायाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्षाद-
भक्तिमार्गायभक्तत्वात्तन्मार्गायमक्ताननेषादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकाः
क्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादश्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गाया
ज्ञेयाः । अग्निमाणाद्युत्तरश्लोकेषु निरूपणम् । तथाच वदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदि-
तानि गङ्गादीनि, तस्या एतापिदेविकादिरूपाणि, चद्रया एव तीर्थभूता आदिसाधक-
नादभक्ताः, परन्तु दृश्यमानलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गाया एव । कर्मपाणांवापेक्षयोक्तम् ।

ज्ञापनाय 'वर्य'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तदोपैरित्यर्थः । तादृशैर्मन्त्रतो-
 ज्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भावद-
 र्मनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणामावरकत्वं तत्राहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदै-
 वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेषु साक्षा-
 त्यरूपोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-
 कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमे-
 वोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा
 सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-
 त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन
 तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुपूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः सपबुद्धय एकान्तस्यितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-
 तीति तेषामपि भायामोहितत्वात्साक्षात्यरूपोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः
 कर्तृणां तन्निरूपयन्ति—अहङ्कारविमूढेष्विति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्यरूपोत्तमस-
 न्यः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-
 तापि गतत्वादिशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने
 मन्त्रे ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-
 ष्विति । 'स्वर्गापवर्गानरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रति-
 ष्ठकत्वात्साक्षात्यरूपोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वाच्चदनुवर्तिनां पापा-
 नुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव
 अपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-
 तीति तत्राहुः—लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां
 अनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा,
 र्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नञात्मन ऐश्वर्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-
 पपन्नं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दा-
 न्नोपि । प्रकृते तु शुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सहै'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां
 सात्त्विकरूपाणुभवो, बहिःमाकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं 'निरोधवर्णने

‘सङ्कल्पादपि तत्र हि’ ‘दूर्तानं स्पर्शनं स्पृष्टमि’त्यादिना । एवं सति पुष्टिपार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि श्रेययुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सैवकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं ‘सङ्गस्तेष्वथ ते मार्ग्यः’ ‘सत्तां प्रसङ्गा’दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-
नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तत्रिरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वंश्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

पद्यमि ‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत’मित्यत्र ‘मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि’-
त्युक्त्या भक्तानां नापैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदा-
नन्दानुभवजनिताश्रुयुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादापार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽप-
रिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः
कृष्णपदस्य रसात्मकभावस्वरूपस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोर्षो न लक्षि-
तस्तद्ग्राह्यः—अम्रतयोगिष्विति । अर्तं अनन्यत्वं पतिप्रतापसपतिविषयकपरमादुरागप्र-
नितरसालम्बभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभावतोऽप्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगां संयोगो
पैपामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नावषर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः
तिरोहितेति । तिरोहितः, अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः मकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु
अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिषे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्य-
नदि पुष्टिपार्गीयैरिव ‘अन्नजनार्तिहन् वीरयोषिवाम्’ ‘सुरतनाथे’त्यादीनि रसात्मका-
वानि । तेषां मर्यादापार्गीयुत्सारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्त-
साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवाधारास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यप्रयेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषु
प्रतत्त्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः
नानावादेति ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डिकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोद्यमास्त्वयापि तेषां मर्यादाभिश्चत्वात्सर्वकर्म-
दिषु सर्वं पुष्टिपार्गीयं याक्तव्यमेवं कर्म कर्माणीवा सेवा ‘मगवता सदे’त्यादिरूपा

लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादा-मार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु । तेषां मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादया गुणज्ञास्ते' इति निरूपितं पुष्टिवाहमर्यादायाम् । ननुतेपि भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः—पापण्डैकप्रयत्नेष्विति । पापण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्न-स्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वा-त्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमित्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाम-क्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरूप्यधिमवैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सद्भो न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्याः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिला-दिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोयं हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदस्यैव मोक्षः कृष्णस्य

सिद्धुवमित्यत्रोक्ताः पुरुषार्या मर्यादामार्गीयभ्यो भिन्ना उपाधिरदिता इति । तत्र हरेर्दास्यं धर्मो उक्तः । तत्र 'पुरुषभूषण देहि दास्यमित्यत्र स्वरूपात्प्रकत्वेन निरूपितमिति भग-वतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टमापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति । तथाहि—अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घा-स्तृप्तां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्य-न्तरं स्वयंसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्त-कारकभावनायामन्तर्लालासहितसाक्षात्स्वरूपमाफट्टये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि-याणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः । अजामिलादयस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मियो गुणगान-

द्रव्यणनामात्मकलीलया तच्चदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तयोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्वैकल्यायुक्तम् । इष्टमाप्तिं निरूपयन्ति अत्रुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तच्चदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभवयतीतिभावः । अनेनेष्टमाप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारवैशद्यदुष्टानापि'त्यारभ्य 'हरिबल्लुखमि'त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितपखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत्र एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिपवाहमर्पादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलावर्षाणामप्याविभावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृशभाववेषणादौ ईदृशधर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतात्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घातरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं वृद्धव ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणवस्तावे 'जटे सदंशः प्रकट इतरावाच्छत्रौ, जीवे आघौ मफटौ आनन्दांशस्तिरोहित' इतिचिह्नपितम् । पुष्टिमाधीयस्य तु साधनदशायां सेवायुगं गानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तयाचोक्तं सिद्धान्तप्रकाशवत् 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः चित्रणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत्' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरदस्येपि 'सर्वेषां प्रसक्ता तत' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दस्वत' इति निरोधविवरणेष्युक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातरस्ते सच्चिदानन्दरूपास्यात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाधिर्गवात्सकला जाताः । कलः रसात्मकद्रव्यविचाराणां तसद्विज्ञा जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं प्रस, 'क'मत्यये ततोपि नृहस्त्वोतिहृच्छो जीवः स वृहज्जातत्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुपूर्णानन्दो हरिरिति । यद्यः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाधिर्गवात्सकलः निरसामकता भावा उपायन्त इति तज्जनितप्रचुरातिशान्त्यर्थमन्वस्तच्चदिन्द्रियादि तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तयोक्तम् । एवं सत्यत्रात्मत्वेनावाहृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य सप्तसप्तसङ्घातः साक्षात्संज्ञात्मकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति ह्यवस्वत दोषावकाश इतिभावः । तदेवं 'श्रीमद्भ

कुलजीवात्सा श्रीमद्भोक्तुलमानसमित्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवाथेरूपत्वं तस्मात्स्य तथात्वसिद्धये शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्वर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलान्-
प्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाहुतम् । पुष्टिपार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यक-
त्वात्प्रागानन्तरं पुनः क्रमेण मियो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य
देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् ।
एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षुरागादित्रपानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । अस्मि-
च्छ्लोके चन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते । तथाहि-विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य ।
विवेकराहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तद्योन्मादावस्थायां
भवतीति सा निरूपिता । धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरार्तिजनितम-
स्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं
तत्राहुः-भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वमन्तःप्राकट्ये साक्षात्कि-
न्मसुखारविन्दसुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं
यतमिदानीं प्रलापावस्थायां फलपतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्य-
पणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलम-
बन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ' भगवान् फलरूप-
सिद्धि' स्वास्थ्यवशयं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकारणे प्रचु-
र्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्जामदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्गा-
त्वेन स्यात्तुमशक्तं गुणावलम्बितवित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले
वित्तबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं 'ज्ञानं
प्राप्य तस्यैव वर्तमानस्य वाधका' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न
तीतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलमकरणीयतृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् ।
गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं छीलाप्रवेशमलापः स्वरूप-
स्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुद्धुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राण-
भागत'मित्यादिनाग्रिमा सा भूचितेति सर्वत्रुपपन्नम् । एतादृशस्य पुनः श्रीप्रमाविर्भावाद्य-
णमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमा-

कन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम् । तथाचोक्तं 'धरा विष्णु रुद्रश्च
भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासांवाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशवस्याभिः पूर्णविषयोमानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्या-
लौकिकं रसात्मकं लीलोपयोभिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरू-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवा-
खिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबलभोवर्षीत् ॥ ११ ॥

सर्वं पावदलौकिकैर्भवेवीयादिगुणानां कर्तृभक्तुमन्पयाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्स-
हितः सन् तं सति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'-
रित्यत्र 'भगव'त्येन स्वतन्त्राङ्गित्वेन । ननु भयोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रभुणा सह
साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टिं काये-
ने'तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षात्साम्यकत्वपरणारविन्दपरकन्दराजसाञ्जलौकिकदेहादि-
सम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाने प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहवाणेन्द्रियादिष्वखिलार्थोन् रसात्त-
कालौकिकत्वयोगुणादिरूपानलौकिकैर्भवेगुणादिसामर्थ्यरूपान करोतीति तयोक्तम्
एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले । एतत्सर्वं यथार्थकः स्वमतिविम्बविभ्र-
इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसापर्थ्यादियोजने'त्यादि । एवं स्वरूपताणकतां संपाद्य स्व-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तम्
ननु मोक्षे आनन्दप्रभता तिष्ठति प्रकृतेषु तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शर-
णस्थसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृशमा-
न्येवैति शरणस्थस्य-सर्वात्मभावस्य-पूर्वोक्तभक्ततच्छ्रीलानन्दसमुद्गमस्य-तत उद्-
करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलामां प्रथम्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठेत् । एतत्सर्वं
एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यदा, लीलानुभवदशायापि तत्त्वभावादेव दैन्य-
वत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिशदम् । अथवा, अतःपरं सर्वतोऽन शरणस्या ज-
इति वा ज्ञापनार्थं शरणं स्थित्यर्थं शक्तः । तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता । किञ्च, एवं
स्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीपदुद्भवोपदिष्टज्ञानेन पादशो निरोधः सिद्धस्तादृशो नि-
पित इति ज्ञापनाचोद्धारं सम्यक्त्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यन्य-

ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुह्यत्वं निरूपितं सन्पासनिर्णये । अतिप्रियाय
गुह्यः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्बलभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत
इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति द्वेतेरत्रवी-
दित्वाद्, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्बलभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न
पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमव-
दातम् ॥ १०-११ ॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।

निरुपधिकरुणैकविभ्रपोपि वितरणशीलविभोरतोद्भुतं नः ॥ १ ॥

व्रतवतो महती किल ते कृपा मदपराभगणा अपि तादृशाः ।

उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥

अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।

श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥

प्रणतालोकसंज्ञातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।

संतापं हरति श्रीमद्विद्वलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

BHAVAN'S LIBRARY, BOMBAY-7

- * *N.B.*—This book is issued only for one week till _____
This book should be returned within a fortnight from
the date last marked below :

Date

Date

Date

7 AUG 1974

27 JAN 1981

Not to be Issued

Not to be Issued

Bharatiya Vidya Bhavan's Granthagar

Call No Sa/VV/VAL/RAG/10880

Title Krishnaśraya Stotrām.
with six commentaries.

Author Vallabha Charya

Date of issue	Borrower's No	Date of Issue	Borrower's No
7/1/76	1976		
Shri RT Vyas			
27 JAN 1981			
	473		

Not to be Issued